

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180722

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 82. 0964

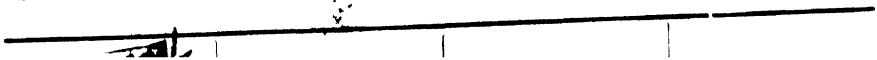
Accession No. H 3048

P 25 L.

Author परमार, श्याम

Title शास्त्रियों का जीवन परिचय . 1959.

This book should be returned on or before the date last marked below.



लोकधर्मी नाट्य-परम्परा

लोक दीर्घी

नाट्य-परम्परा



डॉ. विश्वनाथ परमार



हिन्दी प्रवास पुस्तकालय

वाराणसी—१

कलकत्ता—७

प्रथम संस्करण
मार्च, १९५६



मूल्य : पाँच रुपये



प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी, वाराणसी—१

मुद्रक : विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०, मानमन्दिर, वाराणसी—१

अनुक्रम

विषय	पृ० सं०
१. पीठिका	१
२. उत्तर-भारत	
रास-लीला	१७
राम-लीला	२२
३. मध्यवर्ती भारत	
माच और ख्याल	२८
माच के प्रवर्तक	३८
नये माचकार	४२
नौटंकी, स्वांग या भगत	४७
४. गुजरात	
भवार्ई	५१
५. बंगाल-बिहार	
जात्रा (यात्रा)	५५
गम्भीरा	५८
कीर्तनिया, अंकिया	५९
६. महाराष्ट्र	
तमाशा	६१
ललित	६६
गोंधळ	६८
दशावतार	७०
७. दक्षिण भारत	
यक्षगान	७२
विथि नाटकम्, तोल-	७६
बौम्मलु, कामनकोटू	७६
८. विविध प्रहसन	७८
९. परिशिष्ट	
कठपुतली का खेल	८४
छाया-नाट्य	८८

विषय	पृ० सं०
रास	६०
राजा हरिश्चन्द्र : माच का अंश	६१
माच की प्रमुख धुन	६४
बालमुकुन्द गुरु और कालूराम उस्ताद की वंश-तालिका	६५
चन्द्रसखी रचित एक गीति-नाट्य	६६
प्रकाशित ख्याल	६६
दिल्ली के रामलीला-संचालकों की परम्परा	१०५
लोक-नाट्य : संगठन-विधि	१०६
नौटंकी सम्बन्धी लोक-कथा	१०६





पीठिका

: १ :

भारतीय नाट्य कला के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री भरत प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' (ई० पू० तीसरी शताब्दी) में उपलब्ध है। बाद के कुछ ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं— जैसे धनञ्जय कृत 'दशरूपक' (दसवीं शताब्दी) एवं विश्वनाथ लिखित 'साहित्य दर्पण' (पन्द्रह सौ ई० के लगभग)। वस्तुतः आधार ग्रन्थ के रूप में 'नाट्य-शास्त्र' का महत्त्व सर्वोपरि है।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भरत-प्रणीत नाट्य-शास्त्र के कुछ अंश उल्लेखनीय हैं जिनसे निश्चय ही यह सिद्ध होता है कि नाटक जैसा साधन सहजोद्भव नहीं है, अपितु विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न सामाजिक चेतना का परिणाम है। नाट्य-शास्त्र में उपलब्ध नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त एक कथा से जुड़ा हुआ है जो भारतीय सिद्धान्त के रूप में वर्षों से स्वीकृत होता आ रहा है। तदनुसार इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने ब्रह्मा से सब का चित्त प्रसन्न करने के लिये कोई मनोविनोद का साधन प्रादुर्भूत करने का आग्रह किया। वे ऐसा साधन चाहते थे जो श्रव्य और दृश्य दोनों ही तथा जिसमें सभी वर्ण के लोग समान रूप में भाग ले सकें। 'चूँकि वेदों के उपयोग का अधिकार शूद्रों के लिये निषिद्ध था, अतः नवीन वेद (पंचम वेद) का सृजन अनिवार्य प्रतीत हुआ। इस प्रकार सभी वर्णों के मनोरंजनार्थ "ऋग्वेद से शब्द, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान और अथर्ववेद से रस लेकर ललितकलात्मक नाट्यवेद की सृष्टि ब्रह्मा ने की"।^१ इससे स्पष्ट है कि नाटक की उत्पत्ति के मूल में वर्ग-स्वार्थ की भावना नहीं थी। मनोरंजन के साधनों के लिये सामूहिक प्रयत्न, बिना किसी वर्ग की उपेक्षा के, अनिवार्य प्रतीत हुए थे।

नाट्यशास्त्र के प्रथमोऽध्याय के श्लोकों में एक और कथा उल्लेखनीय है। जब पंचम वेद की रचना हो गई और उसका यथोचित ज्ञान प्राप्त कर भरतमुनि के शिष्यों ने देवताओं के समक्ष (विजयोत्सव पर) प्रथम बार अभिनय प्रदर्शित किया, तो उसकी कथावस्तु देवों की विजय और असुरों की पराजय से सम्बन्धित थी। अभिनय से देवताओं को अपने गौरव पर प्रसन्नता हुई और उन्होंने भरत मुनि के नाटकों के लिये मंच आदि की व्यवस्था कर दी। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों ही देवताओं का उसे संरक्षण प्राप्त हुआ। पर इस घटना से असुर क्रुद्ध हो गये। वे बराबर नाट्य-मण्डली के कार्यों में विघ्न उपस्थित करते रहे। इसलिये विश्वकर्मा ने नाट्यशाला बना दी। अपनी प्रतिष्ठा के लिये देवताओं को मण्डली की निरन्तर रक्षा करनी पड़ी। यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात और है। देवताओं की विजय व्यक्तिपरक न होंकर सामूहिक यश की द्योतक है। इसमें वीरपूजा का आरम्भ अभिनयाश्रित होकर व्यक्त होता है। यह पूजा जितनी बाह्य थी, उतनी ही आन्तरिक। उसमें सामाजिक-उल्लास, आरम्भिक संघर्ष के पश्चात् प्रकट हुआ था।

जिस समय 'नाट्य-शास्त्र' की रचना हुई, उस काल में कृषि-सभ्यता का विस्तार हो रहा था। ग्राम बस रहे थे, लोगों में जातीयता का उदय और ग्राम-धर्म का विकास हो रहा था। विद्वानों का मत है कि उपलब्ध 'नाट्य-शास्त्र' वस्तुतः एक व्यक्ति की रचना नहीं, पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का सुसम्बद्ध सम्पादन है। अतएव नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा को भी 'नाट्य-शास्त्र' में पूर्ववर्ती विचारों से सम्भवतः ग्रहण किया गया हो। यह कथा ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दी तक बराबर उद्धृत होती रही। 'नाट्य-शास्त्र' के निर्माण की आवश्यकता तत्कालीन समाज को देखते हुए जरूरी थी, और सामाजिक पुष्टि के लिये नाट्य को वेद की प्रतिष्ठा देना अपेक्षित था। उक्त कथानकों से हमारे समक्ष नाटकों की उत्पत्ति और विकास का रूपक-परक अर्थ स्पष्ट हो जाता है और हम इससे निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि—(१) आवश्यकता ने नाटक को जन्म दिया, (२) यह आवश्यकता परिस्थिति-जन्य थी (जिसका आभास तत्कालीन समाज के व्यवस्थापकों को हुआ था और उन्होंने ऐसे साधन की अपेक्षा की जिसमें सभी वर्ण के लोगों का सहयोग हो), तथा (३) देवों और असुरों का संघर्ष वस्तुतः वर्ग चेतना का द्योतक था। नाटक के विकास क्रम में संघर्ष को चित्रित करते हुए सभी के दुःख-सुख का विश्लेषण भी नाटक जैसे प्रदर्शन में हो यह अभीष्ट प्रतीत हुआ—

योऽयं स्वभावो लोकस्य, सुख-दुःख समन्वितः ।

सोऽङ्गाद्यभियोपेतो, नाट्याभित्य मिदवीयते ॥

नाटक की उत्पत्ति-सम्बन्धी अन्य मत भी इस चर्चा के सन्दर्भ में विचारणीय हैं। डाक्टर रिजले का मत है कि नाटक की उत्पत्ति मृतक वीरों की पूजा से हुई। मृतक वीरों की आत्मा को प्रसन्न करने के लिये उन्हीं के चरित्र का नाटकीय अभिनय श्रद्धापूर्वक आरम्भ किया गया। डाक्टर पिशेल के अनुसार कठपुतलियों से नाटक की उत्पत्ति हुई। यह मान्यता प्राचीन होकर भी विचारणीय है। राजस्थान, मारवाड़, मालवा, दक्षिण भारत आदि प्रान्तों में कठपुतलियों के खेल और फिर पुतलियों की सर्वदेशीय परम्परा का उपलब्ध स्वरूप उल्लेखनीय है। कतिपय भारतीय ग्रन्थों में कठपुतलियों के नृत्योल्लेख भी इस बात को पुष्ट करते हैं। छाया नाटकों से भी संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया गया। परिशिष्ट में इस विषय पर अलग से विचार किया गया है। वेदों में संवादात्मक ऋचाओं से नाटक की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ने पर भारतीय मत नाट्य-शास्त्र के और भी पीछे चला जाता है। ऋग्वेद में लगभग ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें नाटकीय संवाद के रूप में निश्चय ही स्वीकार किया जा सकता है। वेद पाठ की अपनी विशेष शैली में इन्हीं संवादों का गान होता रहा है। मेक्समूलर का अनुमान है कि संभवतः ऐसे संवाद दो भिन्न दलों द्वारा सामूहिक रूप से गाये जाते होंगे। प्रो० लेवी ने भी यही मत बाद में स्वीकार किया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि सामवेद और अथर्ववेद की ऋचायें तथा ऋग्वेद के संवाद नृत्य, नाट्य और संगीत की त्रिधाभिव्यक्ति हैं। वेदकालीन जन समुदाय इस त्रिवेणी से परिचित था। ऋचाओं के अध्ययन से कहीं-कहीं स्वगत भाषण की रूपरेखा भी उपलब्ध होती है। ऋतु-उत्सवों में नृत्य-नाट्य के प्रमाण खोजने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक युग में यह परम्परा स्वाभाविक रूप से रही है। देवताओं को प्रसन्न करने अथवा तांत्रिक परम्पराओं की साधना के हेतु नृत्य समाज का अनुष्ठानिक अंग रहा है। नाटक का मूल स्रोत वस्तुतः ऐसे नृत्यों के हाव-भाव में वर्णित

वस्तु-तथ्य के भीतर लक्षित होता है।^१ नाटक का इस प्रकार नृत्य से सम्बन्ध लोक-धर्मों नाट्य परम्परा का द्योतक है। बंगाल की यात्राएँ इस परम्परा की अभी भी रक्षा कर रही हैं। कीथ के अनुसार वैदिक ऋचाएँ नाट्य-कला के आरंभिक सूत्रों का प्रतिनिधित्व करती हैं। आदिवासियों में प्रायः मद अथवा शराब पीने की आयोजन फसल पकने के पश्चात् किया जाता है। यह उत्सव का रूप धारण कर लेता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ जिसमें नाटक के संवादों का क्रम निहित है, सम्भवतः फसल पकने के हेतु किये जाने वाले अनुष्ठानों के गीत बन गयी होंगी। कीथ ने 'कोरा' जाति के मद्योत्सव पर उल्लेख करते हुए इस सन्दर्भ में सोमपान^२ के समय इन्द्र के मुख से कहे जानेवाले मन्त्र को स्वगत कथन का स्वरूप बताया है। पुरोहित जिसमें इन्द्र का रूप धारण कर सोम की शक्ति का बखान करता है। कोराओं में एक व्यक्ति मद्योन्मत्त देवता का अभिनय करता है और दूसरा गीत गाता है। नाटक का यह आदिम रूप आज भी कतिपय वनवासियों का मद्योत्सव अथवा अनुष्ठानिक आचारों में दृष्टिगोचर होता है। वर्षा के लिये किये जाने-वाले टोटकों को अथवा विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर अनेक जातियों में प्रचलित कुछ ऐसे आचार सरलतापूर्वक अभिनय की कोटि में स्थान पा सकते हैं। उनमें भी गीतों को पृष्ठ में गाते रहने का प्रघात उपलब्ध है।

प्रो० विन्डिश, ओल्डनबर्ग तथा पिशेल तीनों के मत से वैदिक ऋचाएँ नाटक के पद्यात्मक अंश हैं जिन्हें सुरक्षित रखा जा सका। इनके मध्य में संभवतः गद्यात्मक अंश रहे होंगे, जिन्हें सम्हाले रखना कदाचित् उपयुक्त नहीं समझा गया हो। इसी मत को पुष्ट करने के लिये कुछ विद्वानों ने वैदिक ऋचाओं को वीरगीत अथवा कीर्तिगीत बताने का प्रयत्न भी किया, किन्तु ऐसी सभी बातें आलोचना का विषय बनी हैं।

सामवेद के गीतों को भी नाटक से सम्बन्धित स्वीकार किया जा सकता है। अनुष्ठानिक नृत्यों की परम्परा के प्रमाणों का अभाव नहीं है। ऐसे नृत्यों में सांकेतिक मुद्राओं का प्रचलन बना रहा है। नाटक की उत्पत्ति का बहुत कुछ आधार यही सामग्री है। भारतीय नाटकों की परम्परा में नृत्य का सम्बन्ध दृष्टव्य है। आगे चल कर इन्हीं नृत्य-गीतों में संवादों का प्रवेश नृत्य-नाटकों की उत्पत्ति का कारण हुआ। यों तो नाटकों की प्राचीनता में संदेह नहीं। ईसा की तीन शताब्दी पूर्व रामगढ़ (सरगूजा) की पहाड़ी में अवस्थित 'सीताबैंग' और 'जोगीमारा' की गुफाओं में नाटक का पुराना प्रेक्षागृह बना हुआ है। सीताबैंग में पाये गये एक शिलालेख में उस समय के मनोरंजन का मामूली-सा चित्र मिलता है : "दुले बसंतिया । हासावान् भूते । कुदस्फंत एवं अलंग (त)" पंक्ति का अर्थ सम्भवतः इस प्रकार है कि "वसन्त पूर्णिमा की दोल यात्रा उत्सव सम्बन्धी गीत गाये जाते हैं और हँसी के फौवारे छूटते हैं। गले में चमेली की माला डाले लोग आनन्द से फूले नहीं समाते।" वस्तुतः मनोरंजन की दृष्टि से नाटक का प्रचार सदैव बना रहा है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' की गठन और विभिन्न विधियों की सुविस्तृत योजना यह बताती है कि भरत के पूर्व भारत में नाटकों की परम्परा सभी वर्गों में काफी अच्छे ढंग से प्रचलित रही होगी। भरत ने उनका अध्ययन कर सुव्यवस्थित शास्त्र का निर्माण किया, जिससे कि लोक-प्रचलित मनोरंजन की स्वच्छन्दता और बिखरी हुई पद्धतियों में सुधार होकर एक सूत्र-बद्धता आ सके। उक्त मतों पर विस्तार से चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं, किन्तु संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सभी परोक्ष या

अपरोक्ष रूप से नाटक की उत्पत्ति के सूत्रों से कहीं अधिक और कहीं कम मात्रा में जुड़े हुए हैं। यही ध्यान देने की बात है कि कृषि-जीवन के आरम्भ होते ही अवकाश के क्षणों में मानव ने अपने मनोरंजन के लिये अनेक साधनों का आविष्कार किया। कुछ साधन समाज के प्रिय विषय बन कर परम्परा के रूप में प्रचलित हो गये। आज भी वही परम्पराएँ हमें नाटक की उत्पत्ति के किसी निश्चय की ओर ले जाने के लिये बाध्य करती हैं। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि लौकिक कार्यों में नाटक की अभिनय सामग्री (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्) और धार्मिक कार्यों में पूर्व पुरुषों की कथाएँ मिलती हैं। नाटक की उत्पत्ति में यह वस्तुएँ आगे-पीछे होकर योग प्रदान करती हैं। जिज्ञासा-जन्य प्रयोग और सत्प्रयत्नों ने नाटक में प्राण प्रतिष्ठा की। भरत के पूर्व नाटक का लोक-धर्मी रूप न रहा हो, यह असम्भव है। यद्यपि यह 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट परिलक्षित नहीं हुआ, किन्तु उत्पत्ति सम्बन्धी जो रूपक कथाएँ आरम्भ में दी गई हैं, वे मानव के कृषि-युग की सूचक हैं। जब कि नाटक और निकटवर्ती देशों में अनेक घुमन्तू जातियाँ बस चुकी थीं और जहाँ एक बार बसावट हो जाती है, वहाँ मनोरंजन के साधन अपने आप उत्पन्न होते हैं। नाटक इसी तरह सहज उत्पन्न श्रव्य एवं दृश्य योजना है जो बाद में क्रमशः नियमबद्ध होती गई। इस क्रम में लोकधर्मी और साहित्यिक ये दोनों भिन्न नाट्य परम्पराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित हुईं। आरम्भ में यह भेद न था, बल्कि उसे पूर्ण लोकोन्मुखी बनाने के लिये सभी वर्गों का सहयोग अपेक्षित हुआ था। इसीलिये पंचमवेद का रूपक सम्भवतः एक सुसंयत 'अप्रोच' है, यह कहना अनुचित न होगा।

: २ :

हर्ष के पश्चात् (७ वीं शताब्दी) कुछ शताब्दियाँ ऐसी बीतीं कि प्रत्येक प्रान्त एक-दूसरे के संपर्क से वंचित हो गये। फलस्वरूप मनोरंजन के साधनों का सर्व-सामान्य रूप विच्छेदित हो गया और लौकिक साधन अपने-अपने ढंग से नाना स्थानों में पनपने लगे। तात्त्विक दृष्टि से लौकिक भावनाओं में समानता होते हुए भी उन साधनों में रूप-भिन्नता उत्पन्न हुई। कालान्तर में ये ही साधन रुढ़ हो कर परम्परा की जाती बन गये।

मध्ययुग की परिस्थितियों का अध्ययन करने से यह विदित होगा कि भक्तिपरक आन्दोलनों ने नाटक की उस परम्परा को जो राजाश्रय के अभाव में मुरझा गई थी और वह परम्परा जो साधारण जन में उद्देश्यविहीन होकर नष्ट हो रही थी, एक साथ जीवित कर दिया। कृष्ण-लीला की भावोन्मेषकारिणी विविधता राज-दरबारों और जन-साधारण के मंचों पर एक साथ प्रतिफलित हुई। भागवत के दशम् स्कन्ध की कथाएँ अभिनय का सहारा पाकर लोक-जीवन की अभिव्यक्ति के स्पर्श से परम्परात्मक नाट्य-शैली के सूत्रपात की अधिकारिणी हुई। उधर राम के जीवन का अभिनय रामभक्ति शाखा की प्रेरणा से प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार कालावधि में 'रासलीला' और 'राम-लीला' दो लोकधर्मी नाट्य-परम्पराएँ विकसित हुईं। हिन्दी नाटकों के विकास की पृष्ठभूमि में मध्यकाल की इस श्रौद्धि का महत्वपूर्ण योग है।

संदेह नहीं, मुसलमानों ने भारतीय संस्कृति को काफी नुकसान पहुँचाया और उन्होंने नाटक के विकास में बाधाएँ उपस्थित कीं। ठीक इसी समय सुदूर नेपाल, आसाम,

बंगाल और बिहार तथा निकटवर्ती मिथिला में वैष्णवों के रंगमंच पर अनेक नाटक खेले गये, जो आज भी उपलब्ध हैं। इतिहास लेखकों का मत है कि “उस समय भी (मध्यकाल) मुसलमानी प्रभाव से दूर दक्षिण में संस्कृत नाटकों की रचना और अभिनय कला का प्रचार बराबर बना रहा। ऐसे स्थानों में जहाँ मुसलमानी प्रभाव विशेष था, उच्च श्रेणी के नाट्य-साहित्य और अभिनय-कला का पतन हो गया। केवल गाँवों में रूपक के कुछ हीन भेदों का प्रचार बना रहा।”

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या संस्कृत के या उच्चश्रेणी के नाटकों का विकारी रूप लोकधर्मी नाटकों में निहित हुआ या लोक-नाटकों की अपनी स्वतंत्र परम्परा ही थी। भाषा की दृष्टि से जो भेद संस्कृत या उच्चवर्ग की भाषा और लोक प्रचलित बोलियों में रहा है, वही भेद हमें संस्कृत नाटकों अथवा उच्च कोटि के नाटकों एवं लोकनाट्यों में स्वीकार करना चाहिये। जहाँ लोकनाट्य संस्कृत नाटकों के निकट आये हैं वहाँ वे अवश्य ही नागरिकता से प्रभावित हुए हैं। चूँकि लोकनाट्य लोकधर्मी रहे हैं, अतः राजदरबारों का आश्रय उनके लिये संस्कृत नाटकों की तरह अपेक्षित नहीं था। इसलिये आश्रय के अभाव में उच्चकोटि की नाट्य-कला का हास हो गया और लोक-नाट्य कितने ही उत्थान और पतन के बाद भी गाँवों में आज भी बने हुए हैं। हेमेन्द्रनाथदास के अनुसार संस्कृत नाटकों की परम्परा का अन्तिम नाटक रामानन्द राय (जगन्नाथ वल्लभ) का था, जो जगन्नाथपुरी के मन्दिर में श्री प्रतापरुद्र की आज्ञा से खेला गया था। यह सम्भव है कि यही अन्तिम नाटक न होगा। अन्य प्रान्तों में इस प्रकार की नागर-परम्परा से संबंधित नाटक तब तक अवश्य ही जीवित रहे होंगे जब तक कि राजाओं का वरदहस्त उन पर रहा। इस परम्परा के ठीक विपरीत लौकिक नाटक (लोकधर्मी) हैं, जहाँ आडम्बरों का अभाव और सीमित साधनों में उन्मुक्त अभिव्यक्ति का कौशल विद्यमान है। यही कारण है कि सन्तों ने अपने प्रचार के साधनों में एक साधन नाटक भी माना है। आचार्यों ने लौकिक परम्परा के विरुद्ध जहाँ-तहाँ अपने मत दिये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि लोगों की रुचि लोक-नाटकों की ओर क्रमशः बढ़ रही थी। मध्यकालीन नाटकों में ऐसे अनेक नाटकों का पता लगा है जो भरत की नाट्य रीतियों पर खरे नहीं उतरते। उनमें पद्यात्मक संवादों का आधिक्य और रामायण तथा महाभारत की कथाओं का ग्रामीण पद्धति से विस्तार पाया जाता है। न उनमें पात्र-प्रवेश के संकेत हैं, न चरित्र-चित्रण की उठान। गति और अभिनय का कौशल भी नदारद। जिसे उत्कृष्ट नाट्य कला कहा जाता है उसका कोई रूप उसमें नहीं है। ‘रविमणी हरण’ (विद्यापति), ‘हनुमन् नाटक’ (हृदयराम पंजाबी), ‘प्रबोध चन्द्रोदय’ (यशवन्तसिंह), ‘शकुन्तला’ (निवाज कवि), ‘देवमाया प्रपंच’ (देव), ‘माधवानल काल-कन्दला’ (आलम) आदि ऐसे ही कुछ नाटक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में लोक-नाट्यों का प्रभाव पाया जाता है। ‘चन्द्रावली’ में ‘रास’ का और ‘नीलदेवी’ में ‘स्वांग’ का प्रभाव है (आ० हि० सा० २३२); यद्यपि यह प्रभाव भट्ट-पन से भरा हुआ नहीं है। स्वांगों का तो लोगों पर अवश्य असर होता था। डा० सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ ‘हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास’ में मौलाना गनीमत की एक मसनवी (१८८५) का आशय उद्धृत किया है, जो इस तरह है:—

“आज शहर में अजब किस्म के लोग आये हैं, जो एक तर्जो अन्दाज के साथ नकलें करते हैं, और नगमो-साज के साथ शोबदे दिखाते हैं। नाच और नकल में वे उस्ताद हैं, खुशआवाज हैं। हमारे इस्तिलाह में इनको भगतबाज कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नकल करते हैं, कभी परेशान बाल-सन्यासी बन जाते हैं, कभी मुसलमान, कभी काश्मीर का भेस बनाते हैं, और कभी फिरंगी बन जाते हैं। कभी दहकानी औरत और कभी मर्द की नकल करते हैं, कभी दाढ़ी मुड़ा कर ग्रिब की सूरत में नजर आते हैं। कभी मुगलों की शक्ल बना लेते हैं, कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी जच्चा की हुलिया बना लेते हैं, जिसका बच्चा दाया की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज हर कौम का जलवा दिखाते हैं, और हर तरह के इश्वा जमाने से काम लेते हैं।”

रिजले ने जो कुछ देखा वह इसी प्रकार का था। ऐसे अभिनयों से प्रभावित होकर यदि मनमौजी लेखकों ने साधारण कोटि के नाटक लिखे हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सही माने में उन्होंने जन-रुचि को समझ कर जनवादी अभिव्यक्ति के प्रयोग किये थे और उनके वे प्रयोग उस समय सफल हुए।

भारतेन्दु जी ने नाटक के उत्थान के लिये पर्याप्त प्रयत्न किये और यहाँ तक कि उनके प्रयत्न और प्रयोग कुछ अंशों में इसी प्रकार के थे। उनके समय में उत्तर भारत के रास और रामलीला के मंच रूढ़िवादी हो गये थे। उधर बंगाल की ‘जात्रा’ और मिथिला के ‘कीर्तनिया’ ने उन्हें प्रेरणा दी। लोक-नाट्यों में कला का जो अभाव उन्हें खटका वह तो एक ओर रहा, पर उन्हें देखते हुए एक राष्ट्रीय मंच की आवश्यकता का उन्होंने तीव्रतम अनुभव किया। इसलिये लोकनाट्यों की पद्यात्मक संवाद शैली एवं अन्य नाट्य पद्धतियों के समन्वय को लोकरुचि के अनुसार प्रदर्शन का विषय बनाते हुए उन्होंने मंच की स्थापना की। इस काम में उन्होंने अपने मित्रों, परिजनों, शिष्यों सब को समेटा और अपने समय में अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना कर उनका अभिनय कराया; किन्तु उनके प्रयत्न आगे चलकर असफल हुए। पारसी थिएट्रिकल कंपनी के मुकाबले में वे एक सशक्त हिन्दी मंच की स्थापना नहीं कर सके। उनके समय जो लोकनाट्य प्रचलित थे, वे तो चलते ही रहे, पर जिस खाई को वे अपने समन्वयवादी प्रयोगों से भरना चाहते थे उसमें सफल न हो सके। उनके पश्चात् हिन्दी नाटकों की धारा अंग्रेजी के प्रभाववश लोकधर्मी नाट्यों के संपर्क से एकदम हट गई। अब नाटकों में पद्य का प्रयोग यथार्थवादी कसौटी पर कसा जाने लगा। संक्षेप में, लोक-नाटकों की तात्त्विकता हिन्दी को छू भर सकी और परे हो गई। कृत्रिम उपायों से मंच की सज्जा और नाटकों के अभिनय में जटिलता का विकास हुआ। रूपसज्जा और बाह्याडम्बरों का प्रभाव बढ़ा। इस तरह सभी वर्ग के मनोरंजन का साधन नाटक वर्ग विशेष की वस्तु बन गया और नाटक की वे दो धाराएँ लोक-परक और उच्च वर्ग परक, उसी तरह अलग-अलग चलती गईं। इसमें लोकधर्मी परम्परा का ह्रास नहीं हुआ। आज भी गाँवों में मंच अपने ढंग से सजीव है। उन पर समय-समय पर अनेक प्रकार के मनोरंजन होते हैं। उनमें शैथिल्य नहीं आया। पुस्तक के आगामी पृष्ठों में इस प्रकार के लोकनाट्यों का विस्तार से परिचय दिया गया है। यहाँ संक्षेप में लोक को प्रभावित करने की क्षमता रखनेवाले इन नाटकों के विषय में कुछ स्थूल बातें जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

: ३ :

लोक-नाट्य की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोक-जीवन से उसका अंग-अंगी का नाता है। बाह्याडम्बरों और नागरिक सुसंस्कृत चेष्टाओं के बिना, लोक के मनोभावों और प्रतिक्रियाओं का स्वतंत्र विकास केवल लोकधर्मी नाट्यशैली में ही सम्भव है। लोकवार्ता का एक स्वतंत्र अंग होने के कारण लोक-जीवन में इन नाटकों का अपना अनोखा आकर्षण है। शास्त्रीय नाट्य पद्धति की अनभिज्ञता, मंच निर्माण की विधिवत् प्रणाली का अज्ञान एवं कथानक कुशलताओं के अभाव में भी नाट्य की इस शैली को अपना अस्तित्व बनाये रखने का पूरा अवसर समाज में मिला। ऋतु-उत्सवों, फसल कट जाने के बाद आनन्द के क्षणों एवं विविध अवसरों पर प्रत्येक प्रान्त में इन नाटकों के प्रदर्शन ग्रामीण क्षेत्रों में देखे जाते हैं। भरत ने सम्भवतः इन्हीं प्रदर्शनों को देख कर नाट्य-शास्त्र के चौदहवें अध्याय में लोकधर्मी नाट्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है। यद्यपि संस्कृत में लोकपरक नाट्यों के उदाहरण नहीं मिलते हैं, तथापि समवकार, व्यायोग, प्रहसन, भाण,^१ सट्टक आदि प्रकारों को लोक शैली के नाट्य रूपक कहा जा सकता है। 'दशरूपक' में इन पर संक्षेप में चर्चा की गई है। अपरोक्ष रूप से लोकपरक नाट्य शैली ने संस्कृत के नाटकों को भी प्रभावित किया है, जिसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

समाज की विकास परम्परा में ऐसे नाट्य-रूपों का उदय मनोरंजन के लिये हुआ, जिसमें सभी वर्ग के लोगों ने हाथ बँटाया। नगरों के उत्थान और राजकीय दरबारों के आकर्षण ने उच्च वर्ग के लिये एक सुसंस्कृत नाट्य परम्परा को मार्ग दिया, जिसने प्रेरणा तो इन्हीं लोक-नाट्यों से ग्रहण की, पर वेष और आत्मा को भूमि की उषा से ऊपर उठा लिया। मध्यकाल में जब नागरिकों के मंच का ह्रास हुआ और नाटक समाज के सीमित क्षेत्र के मनोविनोद और विलास का साधन बन गया, तब यही लोक-नाट्य परम्परा गाँवों के जीवन में रस सृष्टि का माध्यम बनी रही। बंगाल, बिहार, उड़ीसा, कुरु, मालवा, राजस्थान, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, आन्ध्र और सुदूर दक्षिणवर्ती प्रान्तों में अपनी-अपनी विशेषताओं से विभूषित लोक-नाट्यों का निरन्तर जयघोष होता रहा है। ये नाटक लोक मानस की अनुकरण-मूलक प्रवृत्तियों, कल्पनाओं और क्रियात्मक अभिव्यक्तियों के सहज प्रतिरूप हैं। अभिनय के अनगढ़ स्वरूप और वाणी के स्वाभाविक प्रवाह में परम्परा से पोषित आस्था के दर्शन होते हैं। लोकवार्तागत विश्वास, अनुष्ठानिक एवं लौकिक पूजा-अर्चना, समाज की वर्गगत भावनाओं की रूढ़ व्यंजना, प्रचलित आख्यानों, कथानकों और सामूहिक नृत्य-गीतों में उपलब्ध उत्साह और उमंग तथा बँधी-बँधायी वाकशैली में लोकपरक यह नाट्यशैली विकसित हुई। भांड, भड़ंत, नट और नक्कालों ने लोक शैली के छोटे-छोटे प्रहसनों को जीवित रखा। विवाह उत्सवों के अवसर पर अनेक जातियों में स्त्रियाँ बारात विदा होने पर स्वांग बनाती हैं। चाँदनी रात में बालक-बालिकाएँ परम्परागत अभिनय प्रस्तुत करते हैं। मनोरंजन का ज्यों ही अवसर मिला नहीं कि लोकबुद्धि अनुकरणात्मक प्रवृत्तियों के मनोनुकूल साधन ढूँढ़ लेती है।

१. कीथ; दी संस्कृत ड्रामा, पृ० ३४८, १९५४।

गाँवों के किशोर और युवकों में कभी-कभी मौलिक घटनाओं के आधार पर प्रहसन उतारने की होड़-सी लग जाती है। प्राचीनकाल से यही प्रवृत्ति चली आ रही है। मध्यकाल में शान्ति के क्षणों में यह अधिक पनपी और गाँवों में रूढ़ हो गई। लोक-कथाओं, अवदानों और गीतों की तरह अनेक छोटे-छोटे प्रहसन न मालूम कब से चले आ रहे हैं। राजा-महाराजाओं के दरबार और शौर्य के प्रसंग वीर-पूजा की भावना के साथ परम्परा की थातो बनकर उपलब्ध हैं। नवीन उद्भावनाएँ भी इनकी पकड़ से परे नहीं रहीं। 'गाँसी' द तासी' नामक फ्रांसीसी इतिहासकार ने ऐसे तमाशों का उल्लेख किया है। उसने 'एशियाटिक जर्नल' की जिल्द बाइस (नई सीरीज) से एक ऐसा ही प्रहसन अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया।^१ जिसे जानकारी के लिये यहाँ प्रस्तुत करना उप-युक्त होगा।

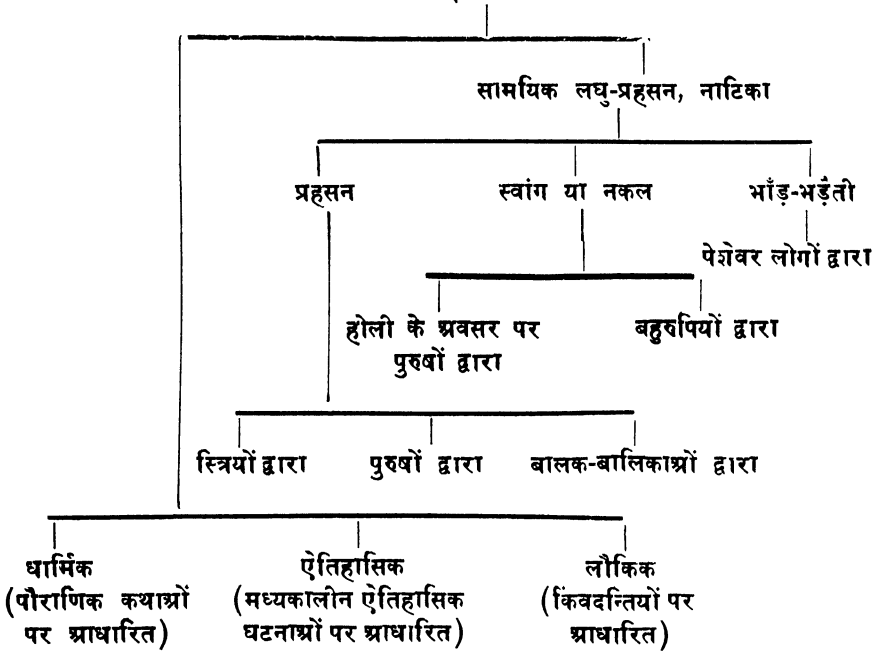
"...दृश्य में कचहरी दिखाई गई है जिसमें यूरोपियन मैजिस्ट्रेट बैठे हुए हैं। अभिनेताओं में से एक, गोल टोपी सहित अंग्रेजी वेश-भूषा में सीटी बजाते और अपने बूटों में चाबुक मारते हुए सामने आता है। तब किसी अपराध का दोषी कैदी लाया जाता है। किन्तु जज, क्योंकि वह एक नवयुवती भारतीय महिला, जो गवाह प्रतीत होती है, के साथ व्यस्त रहता है, ध्यान नहीं देता। जबकि गवाहियाँ सुनी जा रही हैं, वह कनखियों से देखे बिना, बिना किसी अन्य बात की ओर ध्यान दिये हुए नहीं रहता और परिणाम के प्रति उदासीन रहता है। अंत में जज का खिदमतगार आता है जो अपने मौलिक के पास जा कर और हाथ जोड़ कर, आदरपूर्वक और विनम्रता के साथ, धीमे स्वर में उससे कहता है, 'साहिब टिफिन तैयार है'। तुरन्त जज जाने के लिये उठ खड़ा होता है। अदालत के कर्मचारी उससे पूछते हैं कि कैदी का क्या होगा? नवयुवक सिविलियन, कमरे के बाहर जाते समय, एड़ी के बल घूमते हुए चिल्ला कर कहता है, 'गौ डैम, फाँसी'।"

तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया ऐसे छोटे लोक परक प्रहसनों में खूब झलकी है। दोषों की खुलकर खिलियाँ उड़ई जाती हैं। हर बात हास्य, व्यंग, धर्म और राजनीति में उलझती-सुलझती अन्त में सुखान्त स्थिति तक पहुँचती है। स्थूलतः लोकधर्मी नाट्य परम्परा के दो रूप हैं—(१) सामयिक लघु प्रहसन तथा (२) मध्यरात्रि में आरम्भ होकर प्रातःकाल तक अभिनेय गीति-नाट्य।

दूसरी श्रेणी के नाट्यों की कथावस्तु धार्मिक, ऐतिहासिक और लौकिक है। राम-चरित मानस, श्रीमद्भागवत और महाभारत की कथाओं ने धार्मिक नाट्यों का ताना-बाना बुना है। ऐतिहासिक कथाएँ प्रायः मध्यकाल की हैं और लौकिक कथाएँ पूर्णतः लोक प्रचलित परम्परागत कथानकों पर आधारित हैं। अनेक लोक-नाट्य ऐसे हैं जिनका कथागत सामग्री से प्रायः सभी भिन्न होते हैं। इतना होते हुए भी उनके प्रति लोकरुचि तनिक भी शिथिल नहीं होती। वर्षों से लोग उनका अभिनय देखते आ रहे हैं। यही बात ऐतिहासिक और लौकिक कथानकों पर आधारित लोक-नाट्यों पर आरोपित की जा सकती है। लोकधर्मी नाट्य परम्परा के अन्तर्गत आने वाले नाट्य प्रकारों का विभाजन निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :—

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, गाँसी द तासी (अनु० डॉ० लक्ष्मीसागर वाण्येय)

लोकधर्मी नाट्य परम्परा



युगों से प्रचलित लोक-नाट्य परम्परा का अपना स्वरूप विकसित हो कर एक ऐसे ढंग पर आ गया है कि उसको रूढ़ कहा जा सकता है। इसलिये उसकी अपनी विशेषतायें भी क्रमशः उभर सकी हैं। लघु नाटिकाओं अथवा प्रहसनों का रूप यद्यपि व्यवस्थित नहीं है, पर लम्बे ग्रामीण ढर्रे के नाट्यों में बहुत कुछ व्यवस्थित रूप दिखाई देता है। उनकी गठन त्रिधात्मक है—जिसमें अभिनय, नृत्य और गीत तीनों का संयोजित रूप सम्मिश्रित है। शास्त्र-सम्मत अभिनय के चारों अंगों में 'आहार्य' और 'सात्विक' को छोड़ कर 'आंगिक' और 'वाचिक' का प्राधान्य लोक-नाट्यों में द्रष्टव्य है। संक्षेप में स्थूल विशेषताओं पर निम्न क्रम से विचार किया जा सकता है।

१. भाषा और संवाद

लोक-नाटकों की भाषा काव्यमयी होती है। चूँकि ये नाटक सामूहिक अभिव्यक्ति के साधन हैं और पद्यात्मक संवादों द्वारा समूह की कल्पना-शक्ति भावों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखती है, इसलिये इनमें गद्य का प्रभाव कम ही होता है। गद्य का प्रयोग भाँड़ों के हास्यात्मक अभिनय अथवा इतिवृत्तात्मक प्रसंगों में किया जाता है। ऐसा गद्य भी प्रायः पद्यात्मक होता है, जहाँ शब्दों की लड़ियाँ एक दूसरे से गुँथी हुई द्रुतगति से आगे बढ़ती हैं। पद्य-बद्ध संवादों की परम्परा मध्य काल के पूर्व से निरन्तर चली आ रही है। लोक में उसका प्रभाव परम्परा से पोषित होता चला आया है। इसीलिये लोक-मानस पर उसकी छाप तुरन्त पड़ती है। प्रायः देखा जाता है कि पद्य-बद्ध संवादों में कथन की बारीकियाँ वर्शकगण उसी भाँति पकड़ते हैं जिस तरह संवेदनशील कलाकारों की रचनाओं के उत्कृष्ट भाव कुशल पाठकगण ग्रहण करते हैं। ऐसे अनेक अंश इन नाटकों में होते हैं, जो लोकगीतों की धुनों में गाये जाते हैं और लोकभाषा की पुरानी शब्द-योजना में अवगुंठित होते हैं। उन अंशों में साधारणीकरण की सम्पूर्ण क्षमता

होती है और वे बड़े सुन्दर एवं नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं। भाषागत वंशिष्ट्य की दृष्टि से पद्य का आधिक्य नाटकों के पुरानेपन का द्योतक है जो न केवल अपने तक ही सीमित रहा अपितु संस्कृत-नाट्य-परम्परा को भी प्रभावित करने में सफल हुआ। 'चरचा या वाद' के नाम से जो लिखित रचनाएँ मिलती हैं उनमें ऐसे ही पद्यात्मक संवादों का बाहुल्य है। नरहरि (धन और विद्या को वाद), दुलारे कवि (सोने लोहे को झगरो या चरचा) आदि ने कुछ प्रयोग किये थे, जिनकी उपयोगिता स्वयं भारतेन्दु ने भी समझी और १५ अक्टूबर और १५ नवम्बर, १८७३ ई० के 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' के अंकों में ऐसे दो नाटकीय संवादों को गद्य रूप में प्रकाशित भी किया।

२. कथानक

लोकनाटकों में कथानक जैसा कि बताया गया अधिकतर पौराणिक, ऐतिहासिक और बहुत कम सामाजिक होते हैं। कथानकों के प्रायः दो रूप सर्वत्र मिलते हैं। प्रथम कोटि में उन कथानकों का स्थान है जो मुख्य कथा के सहारे देर रात तक चलते रहते हैं। कथानक के घुमाव जहाँ नहीं होते, पर छोटे-छोटे प्रसंगों के द्वारा उनमें विस्तार होता जाता है। दूसरी कोटि में लघु प्रहसनों को महत्त्व दिया जा सकता है। लोकपरक अनुभूति और मनोरंजन का स्वस्थ स्वरूप इनमें उपलब्ध है। इन प्रहसनों को किसी भी समय ग्रामों में गम्मत या मनोरंजन के अवसर पर देखा जा सकता है।

लोक नाटकों के कथानकों में एक प्रकार की कसावट का अभाव पाया जाता है। लोकबुद्धि, शिल्प कौशल के परिष्कृत स्तर तक पहुँची हुई नहीं होती। फिर रूढ़ स्वरूपों के प्रति धीरे-धीरे दर्शक और अभिनेता दोनों में एक ऐसा समझौता हो जाता है कि बिना कथानक की कसावट के भी कथा अपनी सहज गति से खुलती जाती है। पौराणिक कथानकों के प्रति श्रद्धा और ऐतिहासिक कथानकों के प्रति कुतूहल की भावना इस अभाव का अनुभव नहीं होने देती। जगदीशचन्द्र माथुर के शब्दों में: "लोक नाटकों में कथानक प्रायः ढीला-ढाला होता है और पूर्वाद्ध में जितनी विलम्बित गति से कथा बढ़ती है, उत्तरार्द्ध में उतनी ही द्रुत और अस्वाभाविक गति से घटनाओं को ढकेला जाता है। किन्तु इससे अधिक कलात्मक वे लोक-नाट्य होते हैं जिनमें घटनाओं के शिल्प-विधान के स्थान पर जीवन की झँकियों की लड़ी होती है अथवा जिनमें पौराणिक और धार्मिक कथाओं का पूर्व परिचित दर्शक होता है। जो भी हो, लोक-रंगमंच के दर्शक कथानक के चमत्कारपूर्ण अंश अथवा घटनाओं के कुतूहलपूर्ण उद्घाटन की आशा नहीं करते। ये प्रायः पहले ही से परिचित होते हैं और इसलिये कथा से प्राप्त मनोरंजन उनका लक्ष्य नहीं होता बल्कि रसानुभूति द्वारा प्राप्त तृप्ति।"

३. पात्र

लोकनाट्यों के पात्र अपनी विशेषताओं से विभूषित होते हैं। वे प्रायः जाने-पहिचाने एवं प्रचलित समाजगत प्रवृत्तियों के वाहक होते हैं। खसट बुड्ढा, सौत, बुगुणी पति, ढोंगी साधु, कर्कशा औरत आदि ऐसे पात्र होते हैं। पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानकों में भी इन पात्रों की प्रवृत्तियाँ स्थानीय रंगों सहित व्यक्त होती हैं, जिनमें काल और स्थान भेद का ध्यान नहीं रखा जाता। राजा रामचन्द्र लंका जाते समय मंच पर चार चक्कर लगा लेते हैं, अथवा कुछ जरूरी काम हो तो मंच छोड़ कर फिर उपस्थित हो जाते हैं। पात्रों को अभिनय की पूरी स्वतंत्रता होती है। प्रायः निर्धारित

संवादों के अतिरिक्त प्रतिभाशाली पात्र अपनी ओर से कड़ियाँ जोड़ कर रससृष्टि करने में योग देते हैं।

पात्र अपनी परम्परागत शैली में मंच पर अभिनय करते हैं, किन्तु कोई भी यथार्थ-वादी शैली अपनाने का प्रयत्न नहीं करता। यहाँ तक कि किस गीत के साथ कैसा अभिनय, संवाद या नृत्य होगा यह रूढ़ हो गया है। परिणामतः लोक-नाट्यों का संपूर्ण आनन्द उसकी परम्परागत शैली में निहित है। दर्शकगण तड़क-भड़क की अपेक्षा उसके काव्य पक्ष में रस लेते हैं। चूँकि पात्र से उनका सीधा सम्बन्ध होता है और वे उसके गुण-अवगुण जानते हैं, इसलिये उनके अभिनय को कला की दृष्टि से नहीं अपितु मनोरंजन की दृष्टि से देखते हैं।

४. चरित्र-चित्रण

लोकनाट्यों में चरित्र चित्रण का प्रश्न कठिन नहीं है। यों तो परम्परागत नाटकों के चरित्र जाने-पहचाने होते हैं। उनकी चरित्रगत विशेषताओं को लोकधर्मी मंच पर मोटे रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सूक्ष्म मनोदशाएँ संवेदना और सुसंस्कृत मानस को छूनेवाले तत्त्वों का प्रायः उनमें अभाव होता है। संवादों के माध्यम से जो कुछ व्यक्त किया जाता है उसके अतिरिक्त पात्रों की वेशभूषा और चरित्र की दृष्टि से हावभाव पर ही चित्रण अभिक निर्भर है। स्त्रियों के अभिनय के लिये पुरुष ही वेश धारण करते हैं। अतः स्त्रियों के चरित्र-चित्रण में लालित्य की कमी देखी जाती है। 'विदूषक' अपने हास-परिहास से चरित्र की आन्तरिक बातों पर प्रकाश डालता है। नायक को विशेषताओं को प्रकट करने की अपेक्षा उसके द्वारा खलनायक और अन्य पात्रों की विकृतियाँ अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत की जाती हैं।

५. लोकवार्ता का समावेश

लोक-विश्वास, परम्परागत मान्यताएँ, रीति-रिवाज, अभिप्राय आदि लोकधर्मी नाटकों में कथानक, संवाद, संगीत और अभिनय के साथ आबद्ध हैं। आंचलिकता इनमें सोलह आना भरी हुई है। लौकिक आचारों के साथ लोक-भाषा की सम्पत्ति-गीत, कथाएँ, मुहावरों, और स्थानीय बोलियों के ध्वन्यात्मक प्रयोग मंच पर पात्रों द्वारा प्रकट होते हैं। चाहे जैसा भी लोकनाट्य हो, मंच पर वह परम्परा की थाती लेकर ही अवतरित होता है। इसीलिये उसे लोक-विश्वास का आधार मिल जाता है। जनमुलभ, बोधगम्य और लोकधर्मी तत्त्वों का उसमें पूर्णतः समावेश हुआ है। प्रायः संवादों के बीच में जहाँ भी प्रसंग आता है लोकगीतों की कड़ियाँ गायी जाती हैं। इसलिये जन, का नेकट्य उसे प्राप्त है।

६. रूप-योजना

रूप-योजना को लोकपरक नाटकों में स्वांग धारण करने के अर्थ में स्वीकार किया गया है। उसके लिये लम्बे-चौड़े प्रसाधन, अलंकार, भड़कीले वस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। मुर्दासिंगी, भोडर, कोयला, काजल आदि वेशी चमक के साधनों से मुँह पोतकर अथवा मुखौटे लगा कर एवं रंगीन वस्त्र धारण कर पात्र मंच पर प्रवेश करते हैं। पहाड़ी क्षेत्र में चरित्र को व्यक्त करने के लिये—निर्धारित मुखौटे अधिक प्रचलित हैं। मंदानी लोक-नाटकों में यह रिवाज प्रायः नहीं मिलता। स्त्रियों का रूप

धारण करते समय घूँघट में अपनी मूँछ छिपा कर पुरुष पात्र उन सभी अलंकारों को धारण करता है, जो बाहर से दिखाई पड़ते हैं।

७. संगीत-योजना

संगीत लोकनाट्यों की शक्ति है। ढोलक, झाँझ, मजीरे, करताल, चिकारा बाँसुरी, हारमोनियम, पेपा आदि वाद्यों के अतिरिक्त हर स्थान के अपने वाद्यों को उसमें स्थान प्राप्त है। ग्रामीण 'आर्कोस्ट्रा' के सहारे अभिनेता अपने कंठ का माधुर्य बरसाने का प्रयत्न करता है। 'माच' में ढोलक और नौटंकी में नगारे के बिना काम नहीं चलता। संगीत की शैली आंचलिकता से प्रभावित होती है। ऊँची आवाज और वाद्यों की सामूहिक पर जोरदार ध्वनि, दर्शकों और नाटक करनेवालों दोनों को प्रभावित करती है। संवादों के बोल—बिना वाद्य की सहायता से खुलते नहीं। आरंभ से ले कर अन्त तक वाद्य बजते रहते हैं।

८. हास्य

हास्य लोकनाट्यों का प्राण है। विदूषक (या रंगलो) अपने अति नाटकीय हाव-भाव द्वारा जोरदार संवादों से दूर तक बँडे हुए अपार जनसमूह का मन गुदगुदाने में सफल होता है। विदूषक को नाटक के किसी भी प्रसंग में प्रवेश करने की स्वतंत्रता है। वह रावण का मजाक उड़ाता है और राम का भी परिहास करता है। वह गहन राजनैतिक परिस्थितियों में हँसाने की सामर्थ्य रखता है। उसका अरण्य-रोदन तक हास्य का जनक होता है।

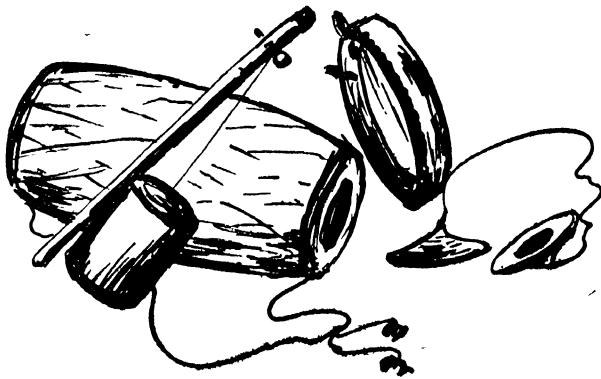
९. मंच-व्यवस्था

लोक नाटकों के मंच खुले होते हैं। मंदिर के आँगन या चौराहे पर किसी ऊँचे स्थान पर बल्लियों के सहारे एक-दो पर्वों की सजावट काफी होती है। पर्व बवलने की व्यवस्था कभी लोक-नाटकों में नहीं होती। दृश्य की कल्पना 'मोरेलिटी प्लेज' की तरह कर ली जाती है। सभी पात्र अपने उत्तरदायित्व से परिचित होते हैं और सभी को सभी तरह के काम करने पड़ते हैं। एक आन्तरिक उत्साह का तार सबको एक ही दिशा में प्रेरित करता है। लोक-नाटकों की अव्यवस्था भी व्यवस्था ही कहलाती है।

समस्त प्रकार के लोक-नाट्यों का पर्यवेक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि १७वीं शताब्दी के पश्चात् जो स्थिरता इन नाटकों में आई वह रूढ़ हो गई है। अब समाज के मानसिक स्तर में काफी परिवर्तन हो गया है और आवश्यकता इस बात की है कि लोकनाट्यों के इसी रूढ़ शिल्प में नये कथानकों और नये भावों का प्रचार किया जाय। इसके लिये उदारचेता लेखक, अभिनेता, संगीतज्ञ और कार्यकर्ता सम्मिलित रूप से इस प्रकार की लोकधर्मी परम्परा का अध्ययन कर नई रचनाएँ लिखें और उन्हें ग्रामीण अभिनेताओं से ही प्रारम्भ में अभिनीत करवाएँ। शासन का सहयोग तो अपेक्षित है ही, पर सतत् प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता भी है। अतः विस्तृत योजना प्रारम्भ में बना कर इस दिशा में गतिशील होना चाहिये। राष्ट्रीय रंगमंच की कल्पना, बिना इस देश के लोकधर्मी नाटकों के अध्ययन और सहयोग के साकार नहीं हो सकती।'

१. लोकनाट्यों की संगठन विधि पर देखिये—श्री जगदीशचन्द्र माथुर का नोट, परिशिष्ट ए०।

भारतवर्ष का जन ग्रामीण है। उसकी उन्नति उसी के साधनों से की जा सकती है। एक बड़ी दूरी जो उसमें और हममें बनी हुई है, वह हमारे उसके रंगमंच में है। वह सचेष्ट है। हमारे मंच उसके सहयोग के बिना सुस्त हैं। हमें इस अन्तर को दूर करना है। इसलिये नये संगठन बनाने होंगे। ग्रामीणों के उगते हुए मंच और धूल खाते हुए वाद्यों में ध्वनि का प्रचार करने के लिये हमें खुले मंच का (ओपन एयर थियेटर) का आन्दोलन सोच-समझ कर, पर वृद्धतापूर्वक आरम्भ करना है। इसके अभाव में हिन्दी का मंच न पनप सकता है और न राष्ट्रीय मंच की स्थापना हो सकती है।





लोकधर्मी

नाट्य परम्परा

उत्तर भारत

रासलीला

‘रास’ शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के मत उपलब्ध हैं। “रसानां समूहो रासः” के अनुसार रास रसों का समूह है। महारास में कृष्ण के अनेक रूपों की कल्पना और दो गोपियों के मध्य एक-एक कृष्ण की अवस्थिति एक रसपूर्ण आयोजना है। वह भी रास है। रास में नृत्य, अभिनय और संगीत द्वारा रस की सृष्टि की जाती है। एक मत के अनुसार जिसमें कृष्ण गोपियों के साथ मण्डलाकार नृत्य करते हैं—रास है। डॉ० कंकड (Kankad) का कथन है कि “रास शब्द की उत्पत्ति ‘रस’ से नहीं अपितु ‘रास्’ से है, जिसका तात्पर्य नृत्य के मध्य में जोर से चिल्ला उठने से है, जैसा कि आजकल ग्रामीण लोक-नृत्य अथवा आदिवासी नृत्य में देखा जाता है।”^१ डॉ० दशरथ ओझा का मत है—“रास शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत देशी भाषा का है, जो संस्कृत बन गया और देशी नाट्य-कला को जो रास के नाम से प्रसिद्ध थी, रास के नाम से ही संस्कृत ग्रन्थों में उद्धृत कर दिया है। रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि रासो और रासक नाम से राजस्थानी में इसका प्रयोग भी मिलता है; और वह रास जिसका विशेष संबंध गोपियों से है, ग्वालों में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है, जो संस्कृत नाटक से अपहृत नहीं माना जा सकता।”^२ रस की परिभाषा व्याख्या का विषय है, तो भी ‘रस’ रास का मूल तत्त्व है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी वीरगाथा कालीन ‘रासो’ का संबंध ‘रासक’ से बताते हैं। शुक्ल जी न लिखा है—“बीसलदास रासो में काव्य के अर्थ में ‘रसायण’ शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी ‘रसायण शब्द’ से ‘रासो’ हो गया है।”^३ कदाचित् रस शब्द से परिपूरित होने के कारण ही वीरोचित लीलाओं के ग्रन्थ ‘रासो’ कहलाने लगे हों। हो सकता है उनमें अभिनय का समावेश भी हुआ हो। भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में रासक एक उपरूपक है। उन्होंने रासक के तीन भेद : (१) ताल रासक, (२) दण्ड रासक और (३) मंडल रासक बताये हैं।

ताल रासक नामस्यात् तत्त्रिधा रासकं स्मृतम् ।

दण्ड रासकमेकन्तु तथा मंडल रासकम् ॥

नाट्य-शास्त्र का समय प्रथम शताब्दी के लगभग स्वीकार किया गया है। अतः प्रथम शताब्दी के पूर्व हमारे यहां रास की यह परम्परा लोक में अवश्य विद्यमान थी। किन्तु ‘नारद पंचरात्र’ (ज्ञानामृत सार संहिता) में इस बात का उल्लेख मिलता है कि कृष्ण गोपियों के साथ नृत्य एवं लीलाएँ करते थे। यह रचना चौथी शताब्दी ई० पू० की बताई जाती है। सम्भवतः इसीलिये मेकडोनल भारतीय नाटकों की उत्पत्ति का आधार

१. टाइम्स ऑफ़ संस्कृत ड्रामा, १४३ ।

२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, ७५-७६ ।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ३२ ।

कृष्ण-भक्ति के प्रसार से मानते हैं। हेमचन्द्र (काव्यानुशासन) के मतानुसार रासक गेय रूपक है। किन्तु यह विवादरहित है कि 'रासक' नृत्य, अभिनय और संगीत की त्रिवेणी का एक मिला-जुला लौकिक रूप (रसों का समूह) है।

नाट्य-शास्त्र में वर्णित 'ताल रासक' (तालबद्ध नृत्य)^१, 'दण्ड रासक' डण्डों को बजा कर किया जानेवाला नृत्य^२ (आजकल जिसे राजस्थान, मारवाड़, ब्रज और मालवा में 'अन्द्या रमण्या' या डण्डे का खेलना कहते हैं)। वे वस्तुतः मण्डलाकार एवं सामूहिक पुरुष नृत्य ही हैं जो दण्ड-रासक के बहुत निकट हैं, एवं 'मण्डल रासक' मण्डलाकार नृत्य रहे होंगे। इस प्रकार के नृत्य के कई प्राचीन चित्र मिलते हैं।^३

प्राचीन गुजराती साहित्य में रास ग्रन्थों की एक साहित्यिक परम्परा का उल्लेख भी कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने ग्रन्थ 'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' (१९३५) में किया है। इस परम्परा के ग्रन्थों में दोहा-चौपाइयों का प्रयोग हुआ है, जिनमें प्रेम-कथाएँ लिखी गई हैं। ई० सन् १११८ के 'नवतव भाष्य' में यह रास-परम्परा अपभ्रंश साहित्य का अंग बताई गई है। मुंशीजी ने गुजराती के 'भरतेश्वर बाहुबली' (११४५) से भी रास की परम्परा का संबंध स्वीकार किया है।

धार्मिक ग्रंथों में 'रास' दार्शनिक विचारों का स्पर्श पा कर ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप से सन्निद्ध हो रहस्यमय स्थिति तक पहुँच गया है। 'लीला' वस्तुतः एक क्रिया है, यद्यपि लीला शब्द भी दार्शनिक परिभाषा में गुंथा जा चुका है। भगवान् रास रूप में हैं। रस में ही उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। लीला रस-सृजन का माध्यम है। वही भगवान् की प्रेमस्वरूपा अभिव्यक्ति है।

'रासलीला' प्रचलित अर्थ में कृष्ण-चरित्र से संबंधित नृत्य—अभिनयात्मक विविध लीलाओं का द्योतक शब्द है। नृत्य के साथ आशिक रूप में संवादों एवं प्रधान रूप से संगीत का इसमें प्रसार है। अतएव रासलीला कतिपय नाटक के तत्त्वों से अनु-प्राणित हो कर अपन लोक-ग्राही रूप में खुले रंगमंच की नाट्य संपत्ति है।

भारतीय साहित्य एवं कला में कृष्ण एक ऐसे चरित्रनायक रहे हैं, जो न केवल

१. नाट्यशास्त्र के अनुसार 'ताल रासक' में निपुण जाति 'भाट' बताई गई है। राजस्थान के भाट यद्यपि आश्रित एवं पेशेवर यश-वर्णन करनेवाली जातियों में गिने जाते हैं तथापि किसी समय वे नृत्य-गान में निपुण रहे होंगे, यह प्रमाणित होता है।

२. जिनदत्त सूरी ने इसे 'लकुट रासक' नाम कदाचित् इसीलिये दिया प्रतीत होता है कि लकुट का तात्पर्य लकड़ी या डंडे से है। 'सप्त क्षेत्र रास' ग्रन्थ में 'दण्ड रासक' करनेवाली जाति 'नर्तक' बताई गई है। यह अवश्य ही इस नृत्य में विशेष निपुण रही होगी। सूरी ने 'दण्ड रासक' देखना वर्ज्य घोषित किया था।

३. 'हल्लीश' नामक नृत्य इसी 'मंडल-रासक' का एक भेद है। भरत ने दोनों की चर्चा की है। जिससे प्रगत होता है कि दोनों में बहुत कुछ नैकट्य होते हुए भी थोड़ा भेद है। वात्सायन ने इसका उल्लेख किया है (हल्लीशक श्रीडेनकं गायेन)। अभिनव गुप्त (९वीं शताब्दी) ने तो नाट्यशास्त्र की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दों में हल्लीश नृत्य को मंडलाकार नृत्य बताया है—“मंडलेन तु यन्नाद्यं हल्लीश-किमितस्मृतम्।” इससे ज्ञात होता है कि ९वीं शताब्दी तक दोनों नृत्यों में निहित भेद लुप्त हो गया होगा।

अपनी लीलाओं के लिये विख्यात हैं; बल्कि दर्शन, साहित्य और राजनीति में भी उन का प्रवेश निस्संदेह प्रभावी है। मध्यकालीन उत्तर भारत में कृष्ण-लीलाएँ अपनी लौकिक रंगमंच का विषय बनीं। रासलीला उसी परम्परा की सम्पत्ति है। इस रासलीला का संबंध न केवल श्रीमद्भागवत से है; बल्कि द्विवेदीजी का अनुमान है कि “भागवत महापुराण में श्री कृष्णलीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है, उससे भिन्न एक और भी परम्परा थी जिसका प्रकाश जयदेव के ‘गीत गोविन्द’ में हुआ। भागवत-परम्परा की रासलीला शरदपूर्णिमा को हुई थी, गीत गोविन्द-परम्परा का रास वसन्त काल में है। ...सूरदास आदि परवर्ती भक्त कवियों में ये दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे से गुंथ कर एक हो गई हैं।”^१ ब्रज तो इन लीलाओं का केन्द्र रहा है। द्वापर में भगवान् श्री कृष्ण का आविर्भाव होते ही थोड़े ही समय के पश्चात् जन-जन में उनकी लीला अभिनय के रूप में प्रश्रय पाने लगी। दान-लीला, मान-लीला, माखन-चोरी, ग्वाल-बालों के साथ ठिठोली, आदि से अभिनय एवं अष्टछाप के कवियों की रचनाओं पर विशेषतः सूर के पदों का आधार ले कर विविध लीलाएँ की जाती रही हैं। १५-१६ वीं शताब्दी में ब्रज-भूमि में यह परम्परा नये उत्साह के साथ प्रकट हुई। नन्ददास, ब्रजवासीदास, ध्रुवदास आदि भक्तों ने रासों की रचना कर रास-परम्परा के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। आजकल रास की अनेक पुस्तकें उत्तर-भारत में मिलती हैं जिनमें कथोपकथन की गीत-बद्ध शैली के साथ संगीत का निर्देश भी कहीं-कहीं उपलब्ध है। ब्रजवासीदास कृत ‘ब्रज-विलास’ एवं नारायण स्वामी रचित ‘ब्रज-विहार’ तो रास रसिकों की प्रिय पुस्तकें हैं।

१४वीं शताब्दी के पश्चात् वैष्णव भक्तों एवं आचार्यों ने रास को उत्कर्ष प्रदान करने के लिये लीलाओं का जो आश्रय ग्रहण किया वह प्रधानतः धार्मिक भावों से संबंधित था। जैन ग्रन्थों के रास तो प्रायः सभी धार्मिक हैं। वीररस प्रधान रासों की वैसे ही परिमिति है और धार्मिक आन्दोलनों के कारण वे पीछे भी रह गये। वल्लभाचार्य जैसे आचार्य द्वारा उसमें कदापि शृंगारी भावों को अनियंत्रित प्रश्रय नहीं मिला होगा। महाप्रभु की इस रस-योजना में अनेक तत्कालीन कलाकारों का सहयोग रहा है। कहते हैं स्वामी हरिदास, हित हरिवंश राय (१५५६ वि०), घमण्डीदेव और नारायण भट्ट^२ भी वल्लभाचार्य के साथ रास के संस्थापकों में हैं। बताया जाता है कि घमण्डीदेव ने ललिता सखी के गाँववाले कुछ लड़कों को अभिनय की शिक्षा दी और अकबर के दरबार के नृत्यकार वल्लभ ने वृन्दावन आ कर उन्हें नृत्य सिखाया। इस तरह एक रास-मंडली बनी जो अपने समय में बहुत प्रख्यात हुई।

जनरुचि की अनुकूलता एवं अभिनयात्मक प्रसाधन के लोकग्राही विकास में रास-लीला अधिकांशतः शृंगारमयी होती रही, जिसका परिणाम यह हुआ कि इतर प्रान्तों में ये लीलाएँ वहाँ की परम्परागत नाट्य सम्पत्ति को भी प्रभावित करने लगीं। आज रासलीला लोक-नाट्य ही है एवं खुले रंगमंच तथा उसके प्रसाधनों को देखते हुए वह

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ १३५।

२. ग्राउस महोदय नारायण भट्ट को रासलीला का संस्थापक मानते हैं। उन्होंने रास को यूरोप के ‘मिरेकल प्लेज’ के समान मानते हुए दृष्यरूपक बताया है।

—देखिए: ‘ए डिस्ट्रिक्ट मेमॉयर ऑफ मथुरा’, पृ० ८६, सन् १८००।

नोटन उसे बंले (समूह नृत्य) और नारगिन हेवन धार्मिक रूपक मानते हैं।

‘लोक’ की ही वस्तु सिद्ध होती है। रासक का उल्लेख ऊपर किया गया है। मुनि जिनविजयजी ने ‘संदेश रासक’ की खोज की है, जिसका रचना-काल १३वीं शताब्दी प्रतीत होता है। श्री ओझा ने इसकी कथा संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कुछ संवादों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। उसे यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक होगा।

“विजयनगर की एक युवती अपने प्राणनाथ के वियोग में अश्रु बहाती, वियोगाग्नि में झुलसती, पति-दर्शन को लालायित पथ पर खड़ी, चारों ओर निहार रही है। इतने में एक पथिक आता है, जिसके पास पहुँच कर हिचकियों के साथ पति को संदेश भेजना चाहती है। उसकी विपन्नावस्था देख कर पथिक उसे एक गाना सुनाता है। पथिक और विरहिणी में इस प्रकार संवाद होता है—

विरहिणी—“आप कहाँ से आते हैं, कहाँ जायेंगे?”

पथिक—“भद्रे ! मैं उस शाम्भपुर से आ रहा हूँ जहाँ भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर प्राकृत के मधुर गान सुनाई पड़ते हैं, वेदज्ञ वेद की व्याख्या करते हैं, कहीं-कहीं रासकों का अभिनय नटों द्वारा किया जाता है।”

:०:

:०:

:०:

:०:

पथिक—“अब मुझे प्रस्थान करना चाहिये। आप अपनी अश्रुधारा रोकिये अन्यथा मुझे अपशकुन के कारण मार्ग में आपत्ति की आशंका होगी।”

विरहिणी—“आपकी यात्रा मंगलमय हो।”

पथिक—“सूर्यास्त हो रहा है। आप अपना संदेश संक्षेप में सुनाइये। अब मुझे अपने पथ पर अग्रसर होना है। कृपा करके इतना बता दीजिये कि आप कब से इस विरहाग्नि में झुलस रही हैं?”

विरहिणी—“जब मेरे प्राणनाथ विदेश चले ग्रीष्म के दिन थे, तब से एक के बाद दूसरी ऋतु नई वेदना ले कर आती है।”

रास में कथानक संक्षिप्त और सूचना द्वारा दृश्य-परिवर्तन की योजना मिलती है। १५वीं शताब्दी में सम्भवतः रास की तीन श्रेणियाँ हो गई—(१) जन-नाटक के रूप में, (२) ‘चरित’ के रूप में और (३) ‘रामो’ के रूप में।

जहाँ कहीं भी रासलीला का प्रदर्शन होता है, श्रद्धालु जनता मन्त्र-मुग्ध हो कर देर तक बैठी रहती है। पात्रों के पद्यात्मक संवाद लोगों को प्रभावित करते हैं। रास-लीला के नायक कृष्ण और प्रधान नायिका राधा होती है। राधा गोपियों के साथ मंच पर प्रवेश करती है। खलनायक कंस है जो रसनागर कृष्ण का एक दम विरोधी है, अतः उसके संवाद पद्यबद्ध न होकर गद्यमय होते हैं।

रासलीला की उत्पत्ति के विषय में श्रीमद्भागवत की यह कथा उल्लेखनीय है, जिसमें राधा एवं अन्य गोपियों में अहंकार और अभिमान उत्पन्न होने के कारण प्रधान नायक कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। उन्हें स्मरण करने और उनकी लीलाएँ करने से वे पुनः प्रकट हुए। इससे सिद्ध होता है कि रासलीला की उत्पत्ति वियोग-शृंगार से हुई। फिर भी यह निर्विवाद है कि भागवत धर्म के प्रसार ने रासलीला को बहुत आगे बढ़ाने में योग दिया।

एक किंवदन्ती के अनुसार रासलीला मणिपुरी नृत्य की उत्पत्ति का आधार मानी जाती है। एक बार शिवजी रासलीला का आयोजन कर रहे थे तभी पार्वती ने नृत्य और घुँघरू की ध्वनि सुनी और उसके पश्चात् शिवजी से रासलीला के दर्शन कराने का

अनुरोध किया। श्रीकृष्ण ने यह स्वीकार नहीं किया किन्तु पार्वती के अनुरोध का अनुमान कर किसी गुप्त स्थान पर वह आयोजन पुनः करने की स्वीकृत दे दी। शिवजी ने बड़े यत्न से एक स्थान खोज निकाला। उन्होंने देवी-देवताओं, गन्धर्वों, अप्सराओं आदि को रासलीला में सम्मिलित होने का निमंत्रण भेजा। नंदी मृदंग ले कर, ब्रह्मा शंख ले कर और इन्द्र वेणु ले कर उपस्थित हुए। नागराज की कृपा से सम्पूर्ण स्थान आलोकमय हो गया। गन्धर्वों ने अपना स्वर्गीय संगीत आरम्भ किया। रासलीला प्रारंभ हुई। यह रासलीला लगातार सात दिन और सात रात होती रही, तभी से 'मणिपुरी नृत्य परम्परा' आरम्भ हुई।

कालियानाग के दमन के पश्चात् श्रीकृष्ण ने वृन्दावनवासियों के साथ नृत्य किया था। वह नृत्य वस्तुतः लोकनृत्य ही होगा जिसे रास की संज्ञा दी गई। महाप्रभु बल्लभाचार्य ने भागवत पुराण में उपलब्ध रासलीला की जो विस्तृत चर्चा की, उसमें राधिका के साथ कृष्ण के नृत्य के अतिरिक्त पुरवासियों सहित नृत्य का भी उल्लेख है। यह नृत्य गोलाकार हुआ करता था। कृष्ण मध्य में और उनके आस-पास गोपियों के जोड़े नृत्य करते थे। कई प्राचीन चित्रों में राधिका के साथ कृष्ण मध्य में बताये गये हैं। तालियाँ दे कर नृत्य करते हुए चित्र भी उपलब्ध हैं।

गुजरात में संत कवि नरसिंह मेहता (१५वीं शताब्दी) के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने कृष्ण की रासलीला का दर्शन किया था। उस समय वे हाथ में मशाल लिये हुए थे। रास-दर्शन में वे इतने तल्लीन हो गये कि मशाल उनके हाथ को ही जलाने लगी।

रास-नृत्य की समानता गुजरात के 'गरबा-नृत्य' से बहुत मिलती है। वैसे गुजरात में 'रासड़ो' भी एक ग्रामीण नृत्य का प्रकार है। सूरत के निकटवर्ती ग्रामों में मोरपंखी को बाँध कर देवी के समक्ष जो नृत्य किया जाता है उसे 'घोर्या रास' कहा जाता है। रास के अधिकांश गीत गरबा में भी पाये जाते हैं। कुछ अंशों में रास एक लोक-नृत्य भी है। अभिनय का स्पर्श पा कर 'रास' लोक-नाट्य की कोटि में भी आ गया है।

रासलीला की परम्परा हिन्दी साहित्य की ही वस्तु नहीं, अपितु उत्तर भारत तथा उसके निकटवर्ती एवं सुदूर प्रान्तों के साहित्य की भी सम्पत्ति है। लोक-नाटकों की परम्परा में रासलीला की कड़ियाँ दृष्टव्य हैं। रास ने जहाँ एक ओर नृत्य की भूमिका प्रस्तुत की है वहाँ दूसरी ओर नाट्य-सामग्री की दृष्टि से लीलाओं में अभिनय संबंधी उपकरण भी दिये हैं।

रास ग्रन्थों की खोज ने हिन्दी नाट्य के आरम्भ का समय तेरहवीं शताब्दी प्रमाणित किया है। रासों की परम्परा ने सैकड़ों वर्षों तक हिन्दी के आदिकाल को सँवारा है। अपभ्रंश में उपलब्ध 'राम' साहित्य का यथोचित अनुसंधान और भी अधिक सम्भावनाओं को प्रकाश में ला सकता है। 'रास' से सम्बन्धित 'रहस' शब्द की चर्चा विद्वानों ने की है जो 'रहस्य' का विकृत रूप प्रतीत होता है। कहा गया है कि उपलब्ध रास-नाट्य को 'रहस' कहा जाता था। श्रीकृष्णदास के शब्दों में : "वाजिदअली शाह अपने यहाँ 'रहस' ही खेलता था और उसके अभिनय के लिये कैसरबाग में 'रहसखाना' भी बनवाया था।"^१

रास की परम्परा कृष्णलीला के विविध प्रसंगों से पूर्णतः आवृत्त है। आभीर नृत्य, गोप-गोपिकाओं की लीलाएँ, कृष्ण संबंधी विभिन्न प्रहसन वस्तुतः रासलील अन्तर्गत आते हैं। कथोपकथन का अपना अस्तित्व इन नाट्यों में प्रायः मौखिक ही है। अब्दुर्रहमान ने रासकों की उपादेयता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'रूपिये सुसम्बद्ध रासों का संवादों के रूप में प्रदर्शन किया करते हैं (कहु बहु-रू बद्धहु रासउ भासियई)।' इसके अतिरिक्त अन्य रासों में मंगलाचरण से लगा आशीर्वाचना तक के समस्त नाटक-तत्त्वों का समावेश मिलता है। डॉ० दशरथ ओझा हिन्दी नाटकों के आरम्भ की चर्चा करते हुए रासकों का महत्त्व स्वीकार किया है शैली के नाटकों में निम्न विशेषताओं की चर्चा ओझा जी ने की है :—

१. नाटक छन्दोबद्ध एवं गेय होते हैं।
२. गद्य भाव प्रायः उपेक्षित होता है।
३. नाटक के पात्र प्रारम्भ से अन्त तक मंच पर ही रहते हैं। प्रवेश और निमण का संकेत नहीं मिलता है।
४. नृत्य और गीत का प्राधान्य होता है।
५. मंगलाचरण और प्रशस्ति पाठ स्वांग नाटकों की तरह होता है।
६. अन्त में नाटक-रचना का प्रयोजन घोषित किया जाता है।
७. भाषा तत्सम शब्दों से बोझिल और देशज उक्तियों से युक्त होती है। रासकों के विकास क्रम की साधारण स्थिति प्रथम तीन भागों में विभाजित जा सकती है।

१. जैन रासकों की परम्परा, जो ब्रज में प्रचलित रासलीला के प्रारम्भ से आ रही थी। १६वीं शताब्दी तक इस जैन-परम्परा का प्रभाव बना रहा।
२. वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ ही कतिपय आचार्यों ने श्रीमद्भागवत के विप्रसंगों से कथानक ले कर स नाट्य शैली का आश्रय लिया। यह पर नन्ददास तक अपने अनगढ़ स्वरूप में चलती रही।
३. सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से ले कर नन्ददास द्वारा परिष्कृत रासलीला वियोगी हरि रचित 'छद्मयोगिनी लीला' (संवत् १६७८ वि०) तक रूप से बनी रही।
४. इसके आगे रासलीला विभिन्न लीलाओं के प्रयोग का आधार बनी। र गीति-नाट्यवाला स्वरूप धीरे-धीरे गद्य की ओर झुकने लगा। परि स्वरूप विकृतियों का समावेश हुआ। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का प्र भी इस परिवर्तन का कारण हुआ।

रासलीला का आज के ग्रामीण जीवन में जो महत्त्व है, उसके मूल में श्रद्धा भक्ति तो है ही, पर कई शताब्दियों से पोषित लगाव भी दृष्टव्य है। तनिक परि परिवर्द्धन के साथ यह शैली और भी अधिक प्रभावशाली बनायी जा सकती लोक-नाट्यों में कीर्तनियाँ, जात्रा और भवाई के ढंग रास के निकट जान पड़ते खोज करने पर रासलीला के प्रति और भी अधिक सम्भावनाएँ उभर सकती हैं।



रासलीला





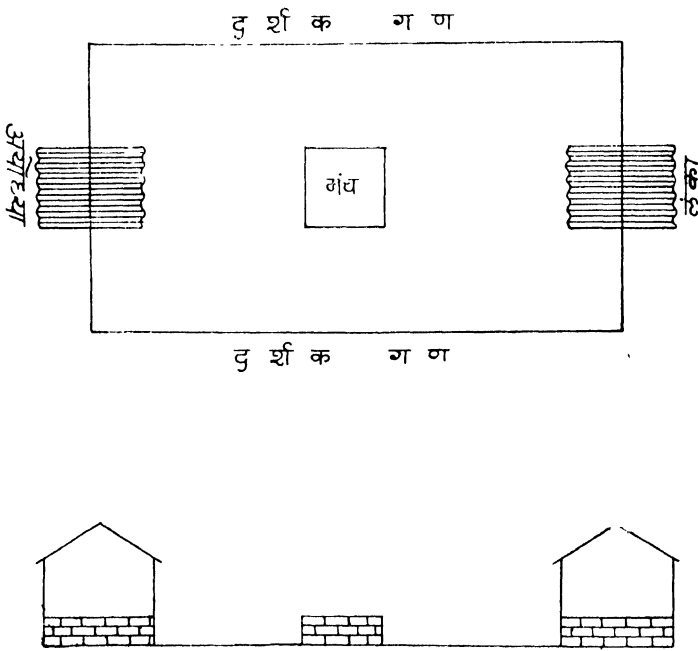
रामलीला के दो पात्र (साधु और राजा के वेष में)

रामलीला

रामलीला का आरम्भ महाकवि तुलसीदास ने किया है। कुछ विद्वानों का भी यही मत है। रामलीला, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, राम के जीवन से संबंधित है और इसी-लि उसका स्थान धार्मिक लोकमंच की श्रेणी में है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर के अनुसार उक्त मत में 'महान् साहित्यिक सत्य छिपा पड़ा है।' आपका कथन है कि "तुलसीकृत रामचरितमानस नाटकीय वर्णन है।" नाटकीय वर्णन (Dramatic Narative) इस अर्थ में कि रामचरितमानस केवल पाठ करने की कथा मात्र नहीं, अपितु वह मंच पर अभिनेय भी है। ग्रंथों के पाठ कि जाने के अनेक उल्लेख प्राप्त हैं। रामायण की कथा कहेवाले ग्रामों में 'पाठक' और 'धारक'—दो भागों में बँट जाते हैं। एक दल रामायण से पाठ करता और दूसरा उसकी व्याख्या। कभी-कभी इस व्यवस्था में अभिनय भी सम्मिलित हो जाता है। जिससे लोक-मंच पर राम-लीला को प्रश्रय प्राप्त होता है। साँची में उत्कीर्ण कुछ दृश्य इस परम्परा की प्राचीनता को प्रकट करते हैं। राम की कथा से तो लोग परिचित थे ही, पर उसी कथा में संवाद-चमत्कार द्वारा रस-भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से तुलसी ने जो रचना की, वह संवादात्मक कही जा सकती है। इन 'संवादों' को एक सूत्र में बाँधनेवाली कड़ी यानी—सूत्रधार के संकेत, आगमन और प्रस्थान की सूचनाएँ, कथानक की गति—का कोई ब्योरा नहीं मिलता। जान पड़ता है ये सब निर्देश मौखिक हुआ करते थे, जैसा रामलीला में आज तक होता है। 'रामचरितमानस' के अनेक संवाद तो छोटे-छोटे एकांकी नाटक ही जान पड़ते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'अयोध्याकाण्ड' में घटनाओं का गुम्फन, चरित्र-विकास, आन्तरिक और बाह्य द्वंद्व एवं कर्ण-रस का पर्यवसान इन सभी नाटकीय अंगों का निरूपण इस खूबी के साथ हुआ है कि उसे यूनानी दुखान्त नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि 'रामचरितमानस' के कवि की नजर बराबर रामचन्द्र की लीलाओं के नाटकीय दर्शन की ओर रही है, समूचा कथानक संवाद के माध्यम से अनावृत्त हुआ है और कई स्थानों पर विभिन्न प्रकृति के पात्रों द्वारा तर्कपूर्ण शैली में वार्तालाप का प्रयोग रंगमंच के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। रामलीला-रंगमंच की कतिपय विशेषताएँ उसे यूरोप के 'पेशन प्लेज' के समकक्ष रख देती हैं। उत्तर प्रदेश के कई नगरों में रामलीला-प्रदर्शन एक ही मंच एवं प्रेक्षागृह में न होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण और पूर्वस्थित पृष्ठ-भूमिसे लाभ उठाते हुए किया जाता है। वनवास तक की लीलाएँ मन्दिरों में होती हैं, गंगापार के लिये नगर के किसी जलाशय अथवा नहर को चुना जाता है। चित्रकूट और उसके बाद की लीलाएँ नगर के बाहर एक विस्तृत मैदान को घेर कर की जाती हैं, भरत-मिलाप और राम-तिलक के लिये पुनः मंडली नगर को वापस आती है। इस तरह रामलीला का रंगमंच अपने ढंग का यथातथ्यवादी (रियलिस्टिक) रंगमंच है और साथ ही वस्तु-विषय की महत्ता का द्योतक भी।"

इस प्रकार के यथातथ्यवादी रंगमंच का एक और रूप देखने में आया है, जिसमें विस्तृत मैदान के दो विरोधी रोर लंका और अयोध्या मान लिये जाते हैं। मध्य में एक उन्नत मंच पर अनिय का आयोजन किया जाता है। 'पाठक' और 'धारक मंच' पर

ही एक ओर बैठते हैं। प्रसंग आरम्भ होने पर रावण लंका से चल कर आता है और राम अयोध्या से। भूमि के चारों ओर दर्शक के लिये स्थान होता है। इस प्रकार की व्यवस्था कुछ स्थानों पर स्थानीय रूप से रामलीला के लिये कर ली जाती है। स्थायी व्यवस्था में लंका और अयोध्या के स्थान पर पक्के चबूतरे बना कर उन पर स्थायी अथवा अस्थायी कक्ष बनाये जाते हैं। इन कक्षों में पात्रों के लिये आवश्यक प्रसाधन और विश्राम की व्यवस्था होती है। मैदान के एक भाग में वनवास का चित्र प्रस्तुत करने के लिये कुटिया भी छावा ली जाती है। सीभाग्य से मैदान में कुछ पेड़ हुए तो कुटिया की शोभा का क्या कहना ! इस प्रकार के खुले रंगमंच लेखक ने मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर देखे हैं। विदिशा के निकट प्राचीन नगर ग्यारसपुर के मंच का रेखांकित मानचित्र विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत है :



रामलीला उत्तर भारत ही नहीं, कुछ हेर-फेर के साथ समस्त भारतवर्ष एवं उसके निकटवर्ती देशों का धार्मिक मंच है। ऊपर 'रामचरितमानस' को नाटक की कसौटी पर कसा गया है। प्रो० विण्डिश, औल्डनबर्ग तथा पिशेल तीनों ने इस प्रकार का अनुमान वदिक ऋचाओं में संवादात्मक अंश देख कर भी किया था। ऋचाएँ उनके मत से नाटक के वे पद्यात्मक अंश हैं जो सुरक्षित रह सके और बीच-बीच में प्रयुक्त होनेवाले गद्यांश-परिवर्तित होते रहे, इसलिये लिपिबद्ध नहीं किये गये।' इस मत पर आगे पर्याप्त रूप में विचार किया। इस नाते 'रामचरितमानस' के संबंध में मतभेद का स्थान शेष नहीं है। क्योंकि लोक-रंगमंच पर उसका प्रत्यक्ष प्रयोग होता आ रहा है। रामायण और महाभारत के 'पाठक' और 'धारक' गायकों से रामलीला के अभिनय सूत्र मिले हुए हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व रामलीला प्रदर्शन के प्रमाण मिलते हैं। हरिवंशपुराण (५०० ई० पू०) में रामलीला पर आधारित एक नाटक अभिनीत किये जाने का उल्लेख है। वाल्मीकि के

समय वीर-पूजा के निमित्त गाये जानेवाले गीतों और अभिनय में रामकथा का प्रभाव था। लव-कुश तो रामकथा का गायन ही करते थे। कदाचित् इसीलिये 'कुशीलव' शब्द पूर्वकाल में गायक एवं अभिनेता के पर्याय स्वरूप स्वीकार किया गया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रामकथा को लिपिवद्ध करने के पूर्व लोकमंच पर राम की जीवन-लीलाएँ आरम्भ हो गई थीं। बहुत सम्भव है कि तुलसीदास ने इस माध्यम को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये मानस की रचना नाटक की दृष्टि से की हो। अतएव यदि काशी के रामनगर की रामलीला के संस्थापक तुलसी माने जाते हैं, तो सम्भव है, यह असत्य नहीं भी हो।

रामानन्द ने रामभक्ति के प्रचारार्थ बहुत सम्भव है रामलीला का माध्यम अपनाया होगा। कदाचित् उस समय को लीलाओं का मंच आज की तरह सुगठित न होकर अनगढ़ अधिक होगा। इस अनगढ़त्व का परिष्कार तुलसी के 'मानस' से किया जाना सम्भवतः विचारणीय है। तुलसी के समय या उनके आगे-पीछे प्रयोग की दृष्टि से राम-संबंधी नाटक मंच के लिये लिखे गये हों तो आश्चर्य नहीं। लोकमंच की सम्पत्ति होने के कारण उनका आज प्राप्त न होना आश्चर्य का विषय नहीं।

१८वीं और १९वीं शताब्दी की लीलाओं के आँखों देखे वर्णन उपलब्ध हैं, जिनसे पता चलता है कि रामलीला उत्तर भारत के बाहर भी ठोठ दक्षिण के छोर तक प्रचलित थी। इन दिनों को खोज ने उसके सुदूर देशों तक में प्राप्त होने के प्रमाण उपलब्ध करा दिये हैं। किसी न किसी रूप में प्रायः सभी पड़ोसी देश राम को उनके देश का पावन पुरुष समझते हैं। बर्मा में कवि यूतो लिखित 'रामयागन' (रामायण) यद्यपि मंच की रचना नहीं है, तो भी लोगों में रामलीला 'धामर्वे' नामक नाट्य के रूप में प्रचलित है। स्याम में कठमुतलियों द्वारा रामकथा वर्णित की जाती है। रामलीला भी लोगों में प्रख्यात है। वाली द्वीप के लोक-नृत्यों में रामकथा की घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। कम्बोडिया के 'रैयामकेर' अथवा स्याम के 'रामकीन' ग्रन्थों के अतिरिक्त राम के जीवन संबंधी घटनाएँ दोनों देशों के प्राचीन मन्दिरों में उत्कीर्ण पायी जाती हैं। यद्यपि प्रदर्शित करने में लाक प्रचलित रुढ़ परम्पराओं का खुल कर आश्रय लिया जाता है, तथापि रामायण की मूलकथा में विशेष परिवर्तन नहीं होता। सुदूर अमेरिका में भी यात्रियों ने राम-रावण युद्ध के प्रदर्शन देखे हैं।

मध्यकाल की परिस्थितियों में, मुख्यतः उत्तर और मध्यवर्ती भारत में रामलीला और रामलीला को पनपने का खूब अवसर मिला। रास में कृष्ण-चरित्र के साथ संगीत के उपयोग एवं माधुर्यमयी शृंगार चैष्टाओं के लिये पर्याप्त छूट रही है। अतएव उन दिनों रामलीला की अपेक्षा रासलीला संबंधी नाट्य रचनाएँ अधिक हुईं। पूर्व में राज-दरबारी नाट्य-कला जो 'कोर्तनिया' और 'अक्रिया' के नाम से नेपाल, मिथिला और असम में पनपी, कृष्ण-चरित्र पर ही अवलम्बित थी। रामलीला में राम के उदात्त चरित्र की रक्षा करने के लिये मंच संबंधी गतिविधियों में मर्यादा अपेक्षित रही है। पुरुषोत्तम राम के व्यक्तित्व की झाँकी, रास के राधा और कृष्ण की लीलाओं के ठीक विपरीत है। रामलीला में इसीलिये शृंगार को पनपने का अवसर नहीं मिला। राम के प्रति लोगों में आध्यात्मिक श्रद्धा है। कृष्ण उनकी तुलना में शृंगार के आलम्बन हैं। आदिम प्रवृत्तियों की जो तुष्टि रास में होती है, वह रामलीला में संभव नहीं। आज भी नेपाल और मिथिला के 'कोर्तनिया' कृष्ण-कथा पर आधारित हैं। वहाँ कदाचित् ही पिछली शताब्दियों में लिखे गये राम-संबंधी नाटक मिलें। हिन्दी में, १९वीं शताब्दी में

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से कुछ अच्छे नाटक लिखे गये जिनमें 'सीता-स्वयंवर' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'रामलीला-विहार' (मधुकर), तथा 'रामलीला' (दामोदर शास्त्री) मुख्य हैं। भारतेन्दु के पश्चात् रामलीला को सुसंस्कृत बनाने के लिये माधव शुक्ल एवं उनके साथियों ने १८९८ ई० में 'श्री रामलीला नाटक मंडली' की स्थापना की थी, पर वह नहीं चली। 'ख्याल' और 'माच' की धज पर लिखी गई 'रामलीला' बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिलती है। मालवा में 'रामलीला माच' की किसी समय बड़ी धूम रही। आज भी कभी-कभी माच की शैली में यह लीला अभिनीत की जाती है।

रामलीला का रास की भाँति अपना स्वतन्त्र विकास हुआ। बहुत संभव है दोनों की नाट्य मंडलियों में प्रतिस्पर्धा भी रही हो। रामलीला में 'मानस-पाठ' की परम्परा ही उसकी उत्कृष्टता की द्योतक है। उसके द्वारा कथा-सूत्र जुड़ते जाते हैं और तदनुसार अभिनय चलता रहता है। रिजले ने ऐसी लीलाओं को देख कर जो वर्णन किया है, उससे पता चलता है कि (१) नृत्य और गीत के साथ कथा का विकास, (२) पद्यात्मक संवाद, (३) खुला मंच (४) ग्रामीण अलंकरण एवं रंग लेपन, (५) मंच पर स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध और (६) गतिमय अभिनय—लोकधर्मी नाट्यों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। रामलीला में नाटकीय गति युद्धादि अवसरों पर ही दीख पड़ती है, अन्यथा शेष अभिनय में शान्त एवं गम्भीर वातावरण बना रहता है।

वर्षों व्यतीत हो गये। वही राम, वही सीता, वही लक्ष्मण, वही भरत, और वही रावण लोकमानस में बसे हुए हैं। आदिकवि वाल्मीकि ने राम-कथा के प्रचार का जो संकेत—

“यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।

तावद्रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥”

में किया था, वह आज सत्य सिद्ध हो रहा है।

रामलीला प्रस्तुत करने की कुछ उल्लेखनीय शैलियाँ हैं। दक्षिण भारत में 'कथकली नृत्य' की कतिपय भाव-भंगिमाओं का आधार रामकथा है। १७वीं शताब्दी में केरव वर्मा और रामब्रह्मा ने इस शैली में रामकथा को प्रथम बार अभिनीत किया था। आगे चल कर १८वीं शताब्दी में राजा रामनाथम् ने रामायण की कुछ मुख्य घटनाओं को लेकर कथकली शैली की कुछ भाव-भंगिमाओं का परिष्कार किया। कथकली नृत्य प्रायः खुले मंच पर होते हैं, इसलिये लोक-जीवन से संबंधित हैं। नर्तक के प्रवेश करते ही नंदीपाठ होता है। तत्पश्चात् कथा आरम्भ होती है। मंच पर नर्तक आंगिक अभिनय द्वारा उसे रूप प्रदान करता जाता है। स्थानीय विशेषताएँ मलयाली गीतों के माध्यम से उभरती जाती हैं। यह शैली दक्षिण भारत तक ही सीमित है।

उत्तर भारत में दृश्य और श्रव्य दोनों ही काव्यों का रास रामलीला में है। मंच के एक ओर बैठ कर वाचक रामायण से पाठ करता है। पाठ करते हुए जहाँ अभिनय संभव हो वहाँ अभिनेता अपने हाव-भाव से कथा को दृश्यमय करता है। एक ओर प्रकार इससे मिलता हुआ है। पाठक द्वारा पढ़े हुए अंश को पात्र मंच पर अपनी भाषा में संवादात्मक रूप में बोलते हुए अभिनय करते हैं।

रामलीला का यह क्रम आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ होता है। जनता ऐसी लीलाओं में उत्साहपूर्वक भाग लेती है। किसी भी पात्र की कमी हुई नहीं कि उसके स्थान पर कई स्वयंसेवक तुरन्त उपस्थित हो जाते हैं।

दिल्ली में रामलीला की बड़ी धूम रहती है। लगभग सन् १९२० के दिल्ली में केवल एक ही रामलीला होती थी। बाद में संख्या बढ़ने लगी। कहा जाता है कि बहादुरशाह के

समय महन्त राघोदास ने दिल्ली में इस उत्सव का आरम्भ किया था। सन् १९३८ में रामलीला के संचालनार्थ रामलीला-समिति को शासन द्वारा मान्यता प्राप्त हुई। तब से यह उत्सव सुव्यवस्थित रूप से आयोजित होता आ रहा है। राघोदास की परम्परामें आज जे महन्त हैं, वही रामलीला के संचालक हैं। [परिशिष्ट में इस महन्त परम्परा का ब्यौरा दिया गया है।]

अयोध्या में अनोखा दृश्य देखने को मिलता है। वहाँ आश्विन कृष्ण नवमी से आरम्भ होकर रामलीला के विविध प्रसंग १९ दिन में पूरे होते हैं। लंका-दहन की आयोजना में बड़ा परिश्रम किया जाता है। साठ-सत्तर फुट ऊँचा रावण का महल बनाया जाता है। उस पर हनुमान रस्सी के सहारे उड़ कर अग्निदाह करते हैं। आगरा में आश्विन कृष्ण प्रतिपदा से रामलीला शुरू होती है। जब राम को वनवास दिया जाता है, तो नगरवासी मंच को छोड़ कर राम को यमुना के पार पहुँचाते हैं। यहाँ उपयुक्त स्थानों पर घटनाओं का क्रम से आयोजन किया जाता है। मथुरा में आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से कई रामलीला मण्डलियाँ उत्सव आरम्भ कर देती हैं। लखनऊ में तो होड़-सी लग जाती है। कूर्माचल में विजयादशमी के अवसर पर रामलीला का प्रदर्शन होता है। साधारण संवादों के अतिरिक्त देशी राग-रागिनियों में वाल्मीकि और तुलसी की रामायण के अंश गाये जाते हैं। नेपाली और तिब्बती रामायण के पाठ अधिक निखरे हुए होते हैं। अभिनय भी उसके लौकिक प्रभाव को उठाने में योग प्रदान करता है।

रामलीला में वेष-भूषा और रंग-सज्जा के लिये विशेष परिश्रम नहीं किया जाता। काजल, चन्दन, सुरमा, गेरू, राख, खड़िया, पेवड़ी, रोली, मुर्दा सिंगी, भोडर, बने हुए चेहरे-मोहरे, पन्नियों से चमकाये हुए मुकुट, लकड़ी के अस्त्र-शस्त्र, दाढ़ी-मूँछें, गेरुआ कपड़े, कमण्डल, हनुमानजी और बन्दरों के लिये लचलची पूँछें, राम-लक्ष्मण के लिये जरी के अंग्रे, धनुष-बाण आदि सामग्री पर्याप्त है। मजा यह कि रामलीला में बहुत कुछ अस्वाभाविकता होते हुए भी लोग उसे बड़े उत्साह से देखते हैं। ऐसा लगता है कि यह परम्परागत लोक-नाट्य लोगों की धार्मिक भावनाओं को परितोष तो देता ही है, पर उनके लिये मनोरंजन का आवश्यक साधन भी हो गया है। यद्यपि कई स्थानों पर रामलीला स्वांग मात्र रह गई है, तथापि उसके परिष्कार और प्रबन्ध की सुनियोजित योजना को ध्यान में रखते हुए देशव्यापित प्रयत्न किये जाने पर इस माध्यम को राष्ट्रीय मंच का स्वरूप सहज ही उपलब्ध कराया जा सकता है। रामलीला का प्रभाव देश में कतिपय नृत्य-मण्डलियों पर पड़ा है। नृत्य-नाट्य रूप में जो प्रयोग इन मण्डलियों ने किये हैं, उनसे रामलीला की शैली में एक दृष्टि से अभिवृद्धि ही हुई है। जहाँ तक उसके लोकपरक रूप का प्रश्न है, उसमें मंचीय आडम्बरों का लोप अवश्य है। सहज अभिनय होने पर ही कोई भी कथा जन-जीवन के निकट अपना स्थान बना सकती है। रामलीला के संबंध में इस दृष्टि से विचार किया जाना अपेक्षित है।



मध्यवर्तीभारत

‘माच’ और ‘ख्याल’

‘माच’ शब्द मंच का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मंच बांधने और उस पर अभिनीत किये जानेवाले ‘ख्याल’ (खेल) दोनों ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। वस्तुतः ‘माच’ मंच पर अभिनीत किया जानेवाला मालवा के पठार और निकटवर्ती क्षेत्र का लोकनाट्य है। माच की व्याख्या के पूर्व माच-मंच के विषय में संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करना यहाँ भूमिका की दृष्टि से संगत होगा।

माच-नाट्य आरम्भ करने के कुछ सप्ताह पूर्व उचित मुहूर्त में ग्राम अथवा नगर की बस्ती के किसी खुले एवं निश्चित स्थान में माच-मंच का ‘खम्ब’ (स्तम्ब) स्थापित किया जाता है। उस समय माच-नाट्य के अभिनेता और कार्यकर्ता एकत्र हो कर अपने गुब्बे के कर-कमलों से खम्ब की पूजा करवाते हैं। आग्न के पत्र, अमर बल्लरी, धनिया, गुड़ और लाल-लाल वस्त्र पूजन-सामग्री में प्रयुक्त किये जाते हैं तथा पूजन की बेला में ढोलक का सतत रूप से बजना अनिवार्य समझा जाता है। माच-मंच के निर्माण के लिये यह औपचारिक आयोजन मांगलिक माना जाता है।

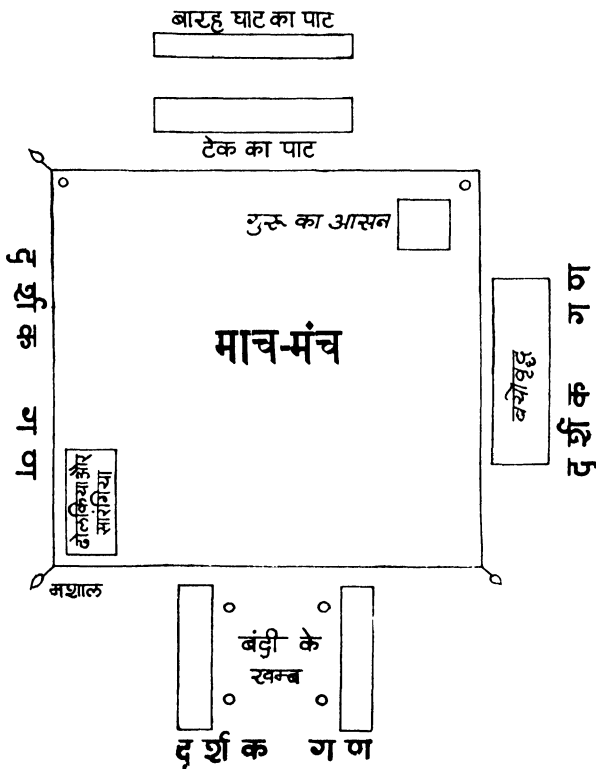
मंच प्रायः दृढ़ खम्बों पर ५ फुट से लगा कर १० फुट ऊँचा बनाया जाता है। ऊपर चार बल्लियों के सहारे सफेद चादर तान दी जाती है और उसमें रंग-बिरंगे कागजों के फूल गोंद से चिपकाये जाते हैं। मंच के चारों ओर रंगीन पन्नियाँ लाल-पीले वस्त्र के टुकड़े, आम के पत्तों की झालरें या ऋतु के फूलों की बन्दनवारें भी टाँगी जाती हैं। मंच की लम्बाई और चौड़ाई का प्रमाण आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार सज्जित मंच यद्यपि चारों ओर से खुला होता है, किन्तु उसकी सुरक्षा के हेतु अन्य व्यवस्था की जाती है, जो माच की परम्परा में अपना वैशिष्ट्य रखती है।

मंच-व्यवस्था के अनुशासनार्थ माच-मंच के दोनों ओर दो-दो पाट और सामने वेदी के चार खम्बे गाड़े जाते हैं। चार खम्ब के निकट १६ युवक, १ जमादार, १ थानेदार, और १ बादशाह बैठते हैं। यह योजना माच के सौन्दर्य में उत्कर्ष प्रदान करती है। पृष्ठ के पाट ‘बारह घाट के पाट’ कहलाते हैं। जहाँ माच-मण्डली के कुछ विश्वासपात्र कार्यकर्ता और अभिनेता माच-नाट्य के अभिनय के अवसर पर उपस्थित रहते हैं। इसी तरह ‘बारह घाट के पाट’ के पास एक ‘टेक का पाट’ भी अवश्य रहता है, जिस पर अभिनेताओं के बोल झेलने के लिये कुछ व्यक्ति बैठते हैं और सामूहिक स्वर में ‘बोल’ और ‘टेक’ दुहराते हैं जिससे गाते हुए अभिनेता को कुछ विश्राम कर अवसर मिल जाता है।

१. मालवी में मंच शब्द के तीन और तद्भव रूप विद्यमान हैं, पर उनके अर्थ भिन्न हैं, यथा—‘मचान’ (भवन निर्माण के हेतु सहारे के लिये बाँधा जानेवाला तख्ता एवं खेत में रखवाली के लिये चार बल्लियों पर आधारित ‘डागला’), ‘माचा’ (बैठने की बड़ी खटिया) और ‘माची’ (बैठने की छोटी खटोली)।

मंच के एक ओर कुछ अनुभवी वृद्धगण बैठते हैं। यदि बोल में कोई भूल हुई अथवा ढोलक की थाप में त्रुटि हुई या अभिनेता के पद-संचालन या हाव-भाव में कहीं असम्बद्धता आई तो वे संकेतों द्वारा सचेत करते हैं। माच के प्रणेता गुरु का आसन भी माच-मंच के एक ओर होता है, जिस पर कोई बैठता नहीं। अतः यह व्यवस्था एक प्रकार से निर्देशन के रूप में है।

प्रकाश के लिये मशालची अपनी मशालों को मंच के तीन खम्बों पर लगा कर अपना उत्तरदायित्व निभाता है। तनिक भी मशाल में प्रकाश का अभाव हुआ नहीं कि वह उठ कर तेल में जलते हुए बलबट्टे भिगो देता है। आधुनिक युग में जहाँ विद्युत अथवा गैस-बत्ती (पेट्रोमेक्स) उपलब्ध हैं, वहाँ मशालों की आवश्यकता नहीं पड़ती। माच-मंच की इस व्यवस्था में रंगशाला का कोई स्थान नहीं, क्योंकि संबंधित पात्र मंच के निकट किसी स्थान में अपने वस्त्रादि परिवर्तित कर आ जाते हैं। मंच चारों ओर से खुला होने के कारण नेपथ्य नहीं होता। दर्शकगण कहीं से भी बैठ कर सम्पूर्ण गतिविधि देख सकते हैं, तो भी (देखिये माच-मंच का रेखाचित्र) सुविधा के लिये दर्शकों को तीन ओर ही बैठने दिया जाता है।



भरत के नाट्य-मण्डल के निर्माण का विधान अपने ‘नाट्य-शास्त्र’ (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के द्वितीय अध्याय में विस्तार से दिया है। उसमें विकृष्ट, चतुस्त्र और त्र्यस्त्र—तीन प्रकार के मण्डपों का उल्लेख किया गया है। प्रथम देवताओं के लिये और शेष दो प्रकार मनुष्यों के लिये हैं। अन्तिम ‘त्र्यस्त्र’ जनसाधारण का मण्डप है। यद्यपि ‘चतुस्त्र’ ही भरत की दृष्टि में उत्तम है, तथापि वर्गभेदानुसार मण्डप के

इन प्रकारों का उल्लेख अनिवार्य था। माच में मंच-निर्माण के पूर्व जिस खम्ब-स्थापन का महत्व है वह भरत के नाट्य-शास्त्र में भी उल्लिखित है। शुभ नक्षत्र में नाट्य-मंच की भूमि का नाप-जोख और दर्शकों, रंगमंच, रंगपीठ, रंगशीर्ष और नेपथ्यगृह के लिये उसके विभाजन के पश्चात् कार्य आरम्भ करने हेतु स्तम्भ की स्थापना किया जाना अनुष्ठानिक विधान कहा गया है। स्तम्भ स्थापना की बेला में स्तम्भ तो संबोधित करते हुए प्रार्थना का उल्लेख है—

यथाऽचलो गिरि मेरुः हिमवांश्च महाबलः ।

जयावही नरेन्द्रस्य तथात्वमचलो भव ॥

(हे स्तम्भ ! तुम मेरु पर्वत और महाबली हिमालय की भाँति अचल हो। तुम विजयी राजा के समान अचल हो।')

भरत के विधान का विस्तार स्थायी रंगमंच के लिये है। अतएव उसका विस्तृत उल्लेख लोक-नाट्य मंच के संदर्भ में अनुपयुक्त है। इसमें मत वैभिन्य नहीं हो सकता कि भरत ने जिन विधानों का उल्लेख किया है, उनमें से कतिपय विधान आज भी जन-साधारण में विद्यमान हैं। माच की 'खम्ब' स्थापना इस बात की द्योतक है। लोक-नाट्यों में इन विधानों का परिलक्षित होना इस बात का भी सूचक है कि प्राचीन संस्कृत नाटकों ने लोक-नाट्यों से अनेक अंशों में प्रवृत्तियों, लक्षणों और विधानों का आदान-प्रदान किया है।

डॉ० कीथ ने संस्कृत नाटकों के साथ लोक-नाटकों की अवस्थिति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "वे (संस्कृत नाटक) जन भाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा को समझना साधारण जनता के लिये प्रायः असम्भव था।" इसीलिये साधारण समाज के अपने मनोरंजन के साधन उच्च वर्ग के साधनों से भिन्न ही रहे। यह भी पर्याप्त रूप से ग्राह्य है कि ऐसे लोकधर्मी साधन हर युग में, हर प्रकार की जनता में विद्यमान रहे हैं। इन्हीं साधनों की सम्पदा में उत्कृष्ट कला और साहित्य के बीच निहित हैं। युगों के पारस्परिक संबंध अवश्य एक-दूसरे के सांस्कृतिक स्तरों को स्पर्श करते हैं। पर्याप्त विश्वास के साथ डब्ल्यू० बी० रट्स ने कहा है—"वह धरती ही है जिसमें सभी उच्च कलाओं की जड़ें समाहित हैं।" लोक-नाट्य 'पृथ्वीपुत्र' की भावनाओं की समुचित अभिव्यक्ति करते हैं। लोक नाटकों की समान विशेषताओं से भिन्न कुछ अंशों में भौगोलिक स्थिति, सोचने और रहने-सहने के समान ढंग एवं स्थानीय अथवा प्रान्तगत संस्कार प्रान्त की संस्कृति के द्योतक होते हैं^१ इस दृष्टि से माच में लोक-नाटकों के सभी लक्षण विद्यमान होते हुए भी उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। उसमें स्थायीय, विश्वास प्रथाएँ, रीति-रिवाज, रूढ़-मान्यताएँ, मुहावरे, जीवन-दर्शन आदि सभी तत्त्व मालवा की धरती की सोंधी महक में पूरित हैं।

लोक-नाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है, जिसका संबंध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न, सर्व साधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के

१. "इट इज बी सायल ह्वेयर आल ग्रेट आर्ट इज रूटेड।"—अर्ली पोयम्स एण्ड स्टोरीज—लन्दन, १९२५।

२. "क्राम कामन फिजियाग्राफी, फीचरस् एण्ड कामन वेज ऑफ लिविंग एण्ड थिंकिंग इज डीराइव्हड बी पैटर्नस् आफ कल्चर पीक्यूलर टू ए रिजन।"—फेलिक्सपर क्राम नेटिव्ह रूटस्—पृष्ठ १७, १९४८।

जन-समुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो। माच को लोक-नाट्य कहना सर्वथा उचित है। ‘ग्राम संगीत नाट्य’ कहने से उसका क्षेत्र ग्राम तक ही सीमित हो जाता है। जब कि उपलब्ध माचों की रचना नगर विशेष में हुई है और जिनका कालान्तर में नगरों और ग्रामों में समान रूप से प्रसार हुआ है, तब उन्हें ग्राम की सीमा से आबद्ध करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

लोक-नाट्यों की विशेषताओं को ध्यान में रख कर ‘माच’ की व्याख्या की जावे तो वह सर्वथा लोक-नाट्य की कोटि में स्थान प्राप्त करता है। लोकगीतों की हृदयस्पर्शी शब्द व्यंजना, मंत्रीय वैशिष्ट्य, रूढ़ अभिनयत्व, पद्यात्मक संवाद-योजना आदि सभी तत्वों का समावेश इन माचों में उपलब्ध है। मिथिला के ‘कीर्तनिया,’ राजस्थान के ‘ख्याल,’ महाराष्ट्र के ‘ललित,’ उत्तर प्रदेश की ‘नौटंकी,’ गुजरात के ‘भवाई’ और ब्रज के ‘रास’ की भाँति संगीत इसका प्राण है। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के समय उत्कृष्ट रंगमंच के अभाव में लोकमंच को ही विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख सन्तों ने लोक-नाट्य-शैली को अपना कर गीति-नाट्य की परम्परा को प्रश्रय दिया। माच पर मध्यकाल के समस्त लक्षणों का प्रभाव पड़ा है। यद्यपि माच का विकास बहुत बाद में हुआ तथापि वह अपने अंक में इन प्राचीन प्रवृत्तियों को ले कर ही प्रकट हुआ था।

अपभ्रंश भाषा के रास-ग्रन्थों की खोज ने भारतीय नाट्य परम्परा के अध्ययनार्थ नया मार्ग प्रस्तुत किया है। समस्त ग्रन्थों के स्थूल अध्ययन से विद्वानों ने यही प्रकट किया है कि ‘लोक’ को गद्य की अपेक्षा पद्य का माध्यम अधिक अपेक्षित एवं प्रिय रहा। इस दृष्टि से माच में पद्य का प्रयोग आकस्मिक नहीं। लोक-नाटकों के अतिरिक्त उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की यह परम्परा १८वीं शताब्दी तक आते-आते लुप्त हो चली थी। यद्यपि भारतेन्दु जी ने वैष्णवों की गीतिकाव्यात्मक नाट्य शैली की विशेषताओं को अपना कर अंकों और दृश्यों के मध्य में गीतों को स्थान दिया है, तथापि यह प्रवृत्ति आगे नहीं बढ़ पाई। भारतेन्दुजी के पूर्व तो विश्वनाथसिंह जू लिखित ‘आनन्द रघुनन्दन’ (रचना-काल लगभग १७०० ई०), जोधपुर नरेश जसवन्त सिंह द्वारा संस्कृत के ‘प्रबोध चन्द्रोदय’ नाटक का हिन्दी अनुवाद (१६४३ ई० के लगभग), गोपालचन्द्र रचित ‘नहुष’ (१८४१ ई०), आदि में स्पष्ट ही गीति शैली का समावेश है। छन्दों के प्रयोग की इस प्रवृत्ति के लुप्त हो जाने से हिन्दी नाटकों में नीरसता व्यापित होने का पूर्ण अवसर सहज ही उपस्थित हुआ। एक ओर यह स्थिति थी और दूसरी ओर सर्व साधारण जनता में लोक-संगीत के सहारे लोकप्रसिद्ध पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानकों का मंच पर अभिनय होता रहा। अतः लोक-नाट्य हर युग में अपना कार्य करते रहे। माच इसी स्वाभाविक लोक-मंच परम्परा की एक शाखा है।

‘ढारा-ढारी’ के खेल

माच का क्रम-संगत इतिहास पिछली एक शताब्दी पूर्व से आरम्भ होता है; कहते हैं, इसके पूर्व मालवा में ‘ढारा-ढारी’ के खेल प्रचलित थे। ‘ढारा-ढारी’ से तात्पर्य उन वीरों से है, जिनका लोक-जीवन से बलवान-समर्थ सहायक के रूप में संबंध

१. देखिये ‘चन्द्रावली’ (१८७८), ‘विद्यासुन्दर’ (१८८८), विषय विषमौषधम् (१८७६), नीलदेवी (१८८१)।

है। राजस्थानी में 'धाड़ी' शब्द का सामान्य अर्थ डाकू है। यों घाड़ी और डाकू में बहुत अन्तर है। 'धाड़ी' अन्याय के विरुद्ध लड़ कर शोषित की रक्षा करनेवाले हुआ करते हैं। वे धनवालों को डाकू की भाँति लूटते अवश्य हैं, पर उस लूट की सम्पत्ति से निराश्रितों और दलितों की सहायता करते हैं। डाकू का यह आदर्श नहीं होता। यही कारण है कि 'धाड़ी' लोक-जीवन में वीर-पूजा की भावना से प्रतिष्ठित है। कई धाड़ियों के जीवन-चरित मंच के विषय हैं। सम्भवतः इसी 'धाड़ी' से मालवी का 'धाड़ा' शब्द बना है जिसका अर्थ है डाका अथवा लूट-पाट के लिये किया गया आक्रमण। आदर्श वीरों के अभिनय की प्रवृत्ति सदैव ही रही है। मालवा में इसी 'धाड़ी' से मिलता हुआ 'ढारा-ढारी' का अभिनय वस्तुतः चरित प्रधान नाट्य का द्योतक रहा होगा। उपलब्ध जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि इस नाट्य-शैली में 'धाड़ी' चरित्रों के साथ-साथ धीरे-धीरे पौराणिक चरित्रों और कथानकों के समावेश की प्रवृत्ति बढ़ी, जो आगे चल कर माच के लिये भूमिका निर्मित करने में सहायक सिद्ध हुई प्रतीत होती है।

धाड़ी राजस्थान की एक जाति भी है, जिसका कार्य मन्दिरों में स्वांग करना अथवा गीत गाना है। कदाचित् उनके द्वारा प्रचलित खेलों को ही 'ढारा-ढारी' के खेल कहा जाता हो। उपयुक्त सामग्री के अभाव में इस परम्परा के संबंध में अधिक नहीं कह जा सकता, फिर भी माच की पृष्ठभूमि 'ढारा-ढारी' के खेलों का किवदंतियों में प्रायः उल्लेख मिलता है।

जान मालकम के संस्मरण

लगभग डेढ़ शताब्दी पूर्व मालवा के ग्रामों में कठपुतलियों के खेल दिखानेवाले एवं चतुर घुमन्तू अभिनेताओं के आगमन का उल्लेख सर जान मालकम ने किया है।^१ मालकम ने किसी बालूबा नामक एक ब्राह्मण अभिनेता के संबंध में लिखा है कि "वह असंख्य यूरोपीय एवं भारतीय दर्शकों के सम्मुख (जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं) कई बार अपना अभिनय दिखा चुका था। यह अभिनय स्वयं उन्हीं के कैम्प में हुआ था। मालकम का कथन है कि "बालूबा नकल की कला में इंग्लैण्ड के कतिपय माने हुए अभिनेताओं से किसी तरह कम नहीं था।"^२ इसी प्रकार उस समय के लोक-नाट्यों का उल्लेख करते हुए बताया है कि "उन खेलों के विषय प्रायः पौराणिक कथानकों पर आधारित होते थे। कथानकों का स्तर तत्कालीन नरेशों और अधिकारियों के आदर्शों के अनुसार होता। हनुमान या 'दू-ददूदाले' (बड़े पेट वाले) गणेश मंच पर आते, हिन्दु देवताओं और अवतारों के स्वांग किये जाते और राजा, मंत्री तथा उनके दरबारी प्रायः परिहास के विषय बनाये जाते।^३ ग्रामीण जनता को उन खेलों में विशेष आनन्द प्राप्त होता, जिनमें उनके यथार्थ जीवन की झाँकी होती। जिला अधिकारियों का घूस लेने का प्रकरण, पटेल का ग्रामीणों पर क्रोध करना और अधिकारियों की चापलूसी और उसे मंच के एक ओर घूस लेते हुए अथवा देते हुए बताना आदि परिहासों को देखने के लिये मालवी स्त्री-पुरुष, माच के दर्शकों की भाँति, उन दिनों रात-रात बैठे रहा करते थे।"^४

१. मैमायरस् ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया—भाग २, अध्याय / १४, पृष्ठ १६६।

२. वही—"ही वाज हार्डली इनफीरियर इन टैलेण्ट (पर्टीक्युलर इन बी आर्ट आफ मिमिकरी) टू सम ऑफ बी मोस्ट सेलिबरेटेड परफार्मर्स इन इंग्लैण्ड।"

३. वही।

४. वही—पृष्ठ १६७।

मालकम के संस्मरण से यह स्पष्ट होता है कि १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मालवा में मनोरंजन के साधन ऐसे थे जिनका आधार ग्रहण कर निश्चय ही माच का प्रणयन किया गया प्रतीत होता है। पौराणिक कथानकों के साथ सामाजिक विषयों में लोक चेतना का रूप स्पष्ट लक्षित होता है। इन्हीं साधनों के स्थायी तत्व अपनाकर माच को अपना प्रभुत्व स्थापना का अवसर मिला।

ख्याल और माच

राजस्थान में भी माच ‘ख्याल’ के रूप में प्रचलित है। वस्तुतः ख्याल और माच भिन्न होकर भी तात्त्विक दृष्टि से एक हैं। माच के आदि प्रणेता बालमुकुन्द गुरु (जिसके संबंध में आगे विस्तार से उल्लेख किया जा रहा है) ने अपनी समस्त माच रचनाओं को ‘ख्याल’ कहा है। उनके अनुसार माच ख्याल है जब कि राजस्थान के ख्याल माच नहीं हैं। बालमुकुन्द गुरु ने अपनी माच रचनाओं के शीर्षक में ही माच और ख्याल के भेद को तिरोहित कर दिया है। “ख्याल माच का—ढोलामारूणी”, ‘असली ख्याल माच का—सेठ-सेठानी’, या ‘ख्याल माच का—नागजी दूदजी’ जैसे शीर्षकों से स्पष्ट है कि गुरु की दृष्टि में ख्याल और माच में भेद नहीं था।

‘ख्याल’ लोकभाषा का परम्परागत शब्द है।^१ अगरचन्द नाहटा ने श्री उदयशंकर शास्त्री के एक लेख का उद्धरण दिया है—“ऐसा कहा जाता है कि १८वीं शती के प्रारम्भ के आस-पास ही आगरे के इर्द-गिर्द एक नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी, आगे चल कर जिसका नाम ख्याल पड़ा। ख्याल निश्चित ही उर्दू और फारसी के मसाले से तैयार चीज़ है। उनको नये-नये कथानकों में बाँधना सबका काम नहीं होता। इन ख्यालियों के कई दल थे जिनमें सभी प्रकार के लोग थे और सभी प्रकार की बंदिशें बाँधने वालों के गोल कभी-कभी होड़ भी लगाने लगते थे”।^२ (देशबन्धु, वर्ष २ : अंक ७)।

इस उद्धरण से ख्याल का प्रारंभ १८वीं शताब्दी से होना प्रकट होता है, किन्तु इस काल में रचित ‘ख्याल’ नामक काव्य भेद का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। कदाचित वे मौलिक रहे होंगे।^३ राजस्थानी में प्रचलित ख्यालों का उल्लेख करते हुए नाहटाजी उनके प्रचार का काल १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होना स्वीकार करते हैं। प्रमाण स्वरूप एच० एस० केलांग ने ‘ग्रामर ऑफ दी हिन्दी लैंग्वेज’ पुस्तक में ‘डूंगजी जवारजी’ ख्याल के कुछ उद्धरण दिये हैं। नाहटाजी का अनुमान है कि ‘स्काच प्रेस बिटेरियन मिशन’ ब्यावर से प्रकाशित एवं पादरी रोबसन द्वारा सम्पादित उक्त मार-वाड़ी ख्याल की पुस्तक ही सर्वप्रथम है।^४ आजकल तो ख्यालों की पुस्तकें एक बड़ी तादाद में उपलब्ध हैं। बालमुकुन्द गुरु ने संवत् १९०१ के प्रश्नात् माच रचना करना

१. लोक-कला, भाग १, अंक २, पृष्ठ १०५।

२. वही “ ” ख्यालों की पूर्व परम्परा, पृष्ठ ६४।

३. मालवा में हास्यात्मक (कथा-सूत्र-युक्त) गीत ‘ख्याली गीत’ कहलाते हैं। स्त्रियाँ इन गीतों को मनोरंजन के हेतु गाती हैं। सम्भवतः इन्हीं ख्यालों से इस शैली का प्रचार लोकगीतों में हुआ हो। ख्याली गीतों में किसी घटना का परिहासात्मक रूप या परिहासपूर्ण संवादों की योजना रहती है। इस प्रवृत्ति से ख्याल रचनाओं का मनोरंजनात्मक उद्देश्य लक्षित होता है, संभवतः बाद में परिवर्तित हो गया हो।

४. लोक-कला, भाग १, अंक २, पृष्ठ ६५।

आरम्भ किया था। कदाचित् संवत् १९०१ के पूर्व ख्यालों से एक बड़ा जनसमूह प्रभावित हो चुका होगा। यही कारण है कि गुरुजी ने राजस्थान, मथुरा, आगरा, कलकत्ता, बम्बई, आदि स्थानों की जनता को जब ख्यालों के रंग में रंगा देखा, तो उसके ढंग को अपनी स्थानीय परम्परा के संयोग से अपना कर माच का उन्नयन किया। ख्याल यद्यपि मिश्रित ढंग की रचना है तो भी उसके पृष्ठ में रास, यात्रा और भवाई का प्रभाव निस्संदेह रहा होगा। यों स्थूल रूप में ख्याल और माच में बाह्य भेद नहीं है। तथापि उसके अन्तर को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित अवान्तर भेद दृष्टव्य हैं।

आरंभ की भूमिका और सामान लक्षण :

- (अ) **ख्याल :** १. सभी पात्र मंच से अलग किसी अन्य स्थान पर गणेश एवं सरस्वती की समवेत स्वर में स्तुति करते हैं।
 २. मंच की सफाई के लिये भंगी (अभिनेता) का आगमन होता है जो अपना परिचय गा कर स्वयं ही देता है।
 ३. भिस्ती आ कर जल से मंच पर छिड़काव करता है, वह भी गीत-बद्ध बोल कहता है।
 ४. हलकारा आ कर प्रधान नायक के आगमन की सूचना देता है। वह सदैव 'गड़ बंगाले' से आता है। (आया हलकारा गोपी चन्द का गड़ बंगाले से—'राजा गोपीचन्द का ख्याल नन्दराम नीमच वाला कृत')। हलकारा ही ख्यालकार का परिचय देता है। इतनी तैयारी के बाद ख्याल का आरम्भ होता है।

- माच :** १. माच-मंच पर ही समस्त अभिनेताओं और कार्यकर्त्ताओं द्वारा गणेश, भेरुजी एवं माचकार की वन्दना की जाती है। साथ ही नगर के प्रमुख देवताओं की समवेत स्वर में स्तुति की जानी आवश्यक है।
 २. माच में भंगी नहीं आता।
 ३. भिस्ती आ कर मंच पर अभिनयात्मक ढंग से छिड़काव करता है। वह सदैव भूपाली भिस्ती कहलाता है।^१

“आया हूँ भूपाली भिस्ती। भूपाल सेर से चल कर आयो उज्जैन सेर देखूँगा बस्ती। आया हूँ।”^२

“अरे भरवा लो पानी

छानी कर लायो रे समन्दर तीर से

सोना की म्हारी मसक बनी रे

कंचन डोल मंदाया।

१. 'भूपाली भिस्ती' का अभिनय लगभग पौन घण्टे तक चलता है। इस बीच माच की अन्य व्यवस्था संपन्न कर ली जाती है। यों तो भिस्ती अपने माच के प्रतीक्षकों को अपने बोल के दो घूँट से सौन्दर्य का पान कराता है, पर माच के कतिपय बर्दियों का कहना है कि 'भूपाली'—पृथ्वी को पालनेवाला राजा इन्द्र है। उसी का यह प्रतिनिधि भिस्ती आ कर छिड़काव करता है; क्योंकि जहाँ माच होता है, वहाँ देवताओं का आगमन संभव है।

२. गुरु बालमुकुन्द कृत नागजी दूबजी, तीसरी आवृत्ति, सं० १९८२, पृष्ठ ५।

म्हारी मसक का पानी जो पीले

वा घर कर दूँ माया ।”^१

४. भिस्ती के बाद फर्सिन आती हैं जो गा कर माचकार गुह की स्तुति करती है एवं मंच पर फर्श या जाजम बिछाने का अभिनय करती है। उसके बोल भी लगभग आधा घण्टे तक चलते हैं। वह अपनी व्यक्तिगत बात भी कहती है जिससे कि उसके विषय में दर्शकों की सहानुभूति बनी रहे :—

“अजी म्हारा पियूजी गया परदेस, जाजम का बिछावांजी।

चंदा सरीका पतिजी हमारा सूरज सरको तेज।

ननैद हमारी कड़क बीजली चमके चारी देस।

हाथ लगे हिवड़ो कुमलावे, म्हारी बालक मेसजी ।”^२

५. इसके पश्चात् गणेश और देवी की वन्दना। देवी के पंडे का आगमन और फिर स्वयं देवी का आगमन और आशीर्वाद के बाद गुह की जय के साथ माच का आरम्भ।

६. माच का आरम्भ अत्यन्त ही नाटकीय होता है। पूजन के पश्चात् प्रत्येक पात्र क्रमशः मंच पर आता है, उस समय ‘चोपदार’ उनका परिचय देता है।

मालवा के सीमावर्ती क्षेत्रों में माच का स्वरूप कुछ भिन्न हो गया है। उसमें माच आरम्भ करने के पूर्व सभी पात्र मंच पर आ कर बैठ जाते हैं, तब किसी निकटवर्ती उच्च भूमि से एक व्यक्ति मंगलाचरण, जिसे ‘चन्द्राना’^३ कहते हैं, आरम्भ करता है और शेष सब उसे समवेत स्वर में दुहराते हैं।

इन माचों में कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। माच के प्रणयन-कर्ता अपने हाथों में माच की लिखी हुई बहियाँ लिये अभिनेता के पीछे चलते हैं। वे मंच पर ही वही में से पंक्तियाँ बोलते हैं और अभिनेता साज पर उन्हें दोहराते हैं। माच का यह स्वरूप अब लुप्त हो रहा है। इसलिये कुछ सीमित क्षेत्रों में इसका रूप दीख पड़ता है। मध्यवर्ती मालवा में उपरोक्त क्रम से ही माच किये जाते हैं।

(आ) १. उक्त भूमिका के पश्चात् दोनों में प्रधान नायक आ कर अपना आत्म-परिचय देता है। उसके पश्चात् क्रमशः अन्य पात्र आते हैं जिनमें माच अथवा ह्याल की कथावस्तु खुलने लगती है।

२. दोनों ही संगीत प्रधान रचनाएँ हैं। संगीत की दृष्टि से ह्याल में लावनी, राग रतवा, विहाग, भाड़ (जंगली टेर), काफी, सोरठ सारंगी, जंगलो, बरबो, असावरी, कलिंगड़ा, भैरवी आदि रागों में ‘टेर’ (कथोपकथन) गायी जाती है। माच की धुन ‘रंगत’ कहलाती है जिनका आगे उल्लेख किया जायगा।

३. दोनों के कथोपकथन गीति प्रधान और संक्षिप्त होते हैं। राग-रागिनियों से ही उन्हें विस्तार प्राप्त होता है।

१. गुह बालमुकुन्द कृत नागजी दूबजी, तीसरी आवृत्ति, सं० १९८२, पृष्ठ ५।

२. वही,

३. राधाकिशन गुह की परम्परा में मालन आ कर फूल बिछाती है।

३. मारवाड़ी गीतों की एक शैली भी ‘चन्द्रायण’ कहलाती है, जिसकी प्रमुख टोक—‘इतरावे करतार फिर नहीं बोलणा।’

४. दोनों में अभिनय की अपेक्षा संवादों का महत्त्व प्रधान है।
५. अभिनेता अपने ढंग के अभिनय के लिये स्वतंत्र है। अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये अभिनेता लोक मंचीय 'गुब्ब' (भेद) रखते हैं। अभिनेता 'स्वरूप' कहलाते हैं। कहीं उन्हें 'स्वांग' और 'रूप' भी कहते हैं। प्रायः सभी व्यक्ति साधारण समाज के होते हैं।
६. दोनों की कथावस्तु—पौराणिक, ऐतिहासिक और प्रायः लौकिक एवं अर्धऐतिहासिक होती है। अन्त सुखान्त होता है।
७. दोनों में नेपथ्य का अभाव है और दृश्य-परिवर्तन कल्पना और अन्य संकेतों से समझे जाते हैं।
८. दोनों मध्य रात्रि में आरम्भ हो कर सूरज की प्रथम किरण के साथ समाप्त होते हैं।
९. दोनों में संगीत के साथ सामूहिक और व्यक्ति नृत्य की परम्परा विद्यमान है। 'सम' की थाप पर एक झटके के साथ अभिनेता नाच की गति में प्रवेश करते हैं।

यह सम्भावना व्यक्त की गई है कि ख्याल का आरम्भ आगरा के निकट १८वीं शताब्दी के आरम्भ में एक नई कविता शैली के रूप में हुआ है। किन्तु ख्याल का राजस्थान से विशेष संबंध है। आजकल राजस्थानी में लिखे हुए अनेक ख्यालों की पुस्तकें देखने में आती हैं। सम्भवतः राजस्थान में लोक-प्रचलित कथानकों की विपुलता एवं चारण और भाटों द्वारा उनके प्रचार, प्रश्रय तथा प्रोत्साहन से बाद में यह काव्यशैली अभिव्यंजना के हेतु अपना ली गई हो। राजस्थान में गायकों की पेशेवर जातियों से इसकी गति प्राप्त हुई होगी और फिर लोगों द्वारा अपनाये जाने से स्वाभाविक रूप से प्रचार में सहायता भी मिली हो। यह स्पष्ट है कि लोककवि को प्रभावित करने वाले साधन प्रान्त की सीमा लांघ जाते हैं। ख्याल भी माच की भाँति मालवा और निकटवर्ती प्रान्तों में खूब प्रसिद्ध हुए।

गुरु बालमुकुन्द की तरह ख्याल के क्षेत्र में नानूराम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नानूराम शेखावटी के चिड़ावा का निवासी था। गुरु की भाँति वह स्वयं मंच पर उतरता और अपनी मंडली को उचित निर्देशन दिया करता था। उसके बनाये हुए लगभग ५० ख्यालों का पता चला है।^१ नानू का समकालीन उजीरा तेली था, जिसने १० ख्याल बनाये।^२ अन्य ख्यालकारों में झालाराम 'निर्मल', भूधरमल मिसर, प्रेमसुख भोजक के नाम प्रायः लिये जाते हैं। माच के प्रोत्साहन में ख्यालकारों की परम्परा का निश्चय ही हाथ रहा है। माच के लक्षणों से यह स्पष्ट होता है।

माच और रास

माच यद्यपि ख्याल के बहुत निकट है, किन्तु मध्यकालीन परम्पराओं से तनिक पीछे हटते ही रास की जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसका यथोचित अध्ययन हमारी

१. देखिये लोक कला (भाग १, अंक १) में मनोहर शर्मा द्वारा प्रस्तुत सूची, पृ० ४४ अगरचन्द नाहटा की अंक २ में प्रस्तुत सूची भी देखिये, पृ० ६६-१०४। (परिशिष्ट में उद्धृत)।

२. प्रेरणा, अक्टूबर १९५४ में श्री गीण्डाराम वर्मा का 'शेखावटी के नाटक, ख्याल'—शीर्षक लेख, पृ० ८०-८१।

लोक-नाट्य परम्परा की शृंखला को दूर तक खींच ले जाता है। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोक-मनोरंजन के लिये रास, चर्मरो, फागु आदि शैली में गीति-नाट्य की रचना की जाती थी। इन नाट्यों का अभिनय उसी भाँति किया जाता था, जिस तरह कुछ हेर-फेर के साथ आज माच में देखा जाता है। यद्यपि माच की परम्परा उसके नाम के अनुसार इतनी पीछे नहीं जाती तथापि शैली साम्य की दृष्टि से माच उक्त परम्पराओं से हट कर स्वतंत्र रूप में विकसित परम्परा भी तो नहीं कहीं जा सकती है। उसे तो लोकधर्मी गीति नाट्य शैली कहना ही उपयुक्त होगा। भरत ने नाटक को “क्रीडनीय कमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यम्बदेत्” कहकर वही बात कही है, जो माच पर भी घटित होती है।

‘सिरी थूलिभद् फागु’ की कथा को स्थूल रूप से देखें तो उसे ‘भासों’ में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भास के अन्त में ‘धत्ता’ द्वारा कथा को विश्राम दिया जाता है चूँकि प्रायः रास में कथावस्तु होती है और गेयता के साथ वे नाट्य रूपक हैं, अतः उदाहरणार्थ भासों के विभाजन क्रम को यहाँ देना संगत होगा :—

भास : १ : मंगलाचरण, थूलिभद् का यशःस्तवन, वेश्या के ससंभ्रम का बर होकर अगमन तक का वर्णन।

भास : २ : स्थूलभद् का रंगशाला में प्रवेश और वर्षा का चारु चित्र।

भास : ३-४ : कोशा के नखशिख सौन्दर्य का वर्णन।

भास : ५ : मुनि को लुभाने के लिये कोशा के हाव-भाव का वर्णन।

भास : ६ : मुनि की चारित्रिक दृढ़ता एवं संयम की अटलता।

भास : ७ : उपसंहार, काम-विजय और देवताओं द्वारा पुष्प-वृष्टि, नृत्य-गायन : समाप्ति।^१

माच और रास में निम्नलिखित तुलनात्मक लक्षण उल्लेखनीय हैं :—

१. रास में केवल पद्यात्मक संवाद योजना है। यद्यपि रास में श्रव काव्य की प्रतीति होती है, जबकि माच में यह स्पष्टीकरण संवाद (बोल) और लौकिक रागों के निर्देश के कारण नहीं होता, उस दृश्य योजना के संपूर्ण संकेत निहित है।
२. रास अधिकांश में यूरोप के ‘मिराकल’ या ‘मिस्टिक प्लेज’ व भाँति हैं, जिनमें श्रीमद्भागवत की कथाएँ विभिन्न लीलाओं के रूप में की जाती हैं। इनका अभिनय मन्दिरों या अन्य पवित्र स्थानों किया जाता था। माच ने लौकिक प्रेम-कथाओं का आश्रम लिय इसीलिये उनका अभिनय मन्दिरों में न हो कर खुले एवं सर्वसाधारण स्थानों में किया जाने लगा।
३. यात्रा, रामलीला और रास के कथानक धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित हैं और माच की भाँति उनमें लोक-संगीत का प्राधान्य अवश्य है किन्तु गीत-संवादों द्वारा कथानक की सूत्र बद्धता कायम करने के लिये सूत्रधार आद्योपान्त मंच पर रहता है, जिसका माच में अभाव होता है। माच में पात्र अपने संवाद की समाप्ति पर स्वयं हट कर ए

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६, अंक १, २०११ में ‘सिरी थूलिभद् फागु’ लेख, पृष्ठ २६।

और खड़े हो जाते हैं और अन्य पात्र के 'आगम' के लिये मंच पर स्थान देते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अप्रत्यक्ष रूप से रास ने माच को प्रभावित अवश्य किया है। पद्यबद्ध नाटककी प्राचीन परम्परा लोकधर्मी रही है। यही कारण है कि आधुनिक युग में गीति-नाट्यों का स्वरूप एक प्रकार से नाटक के क्षेत्र में चला आ रहा है। यात्रा अथवा रास-परम्परा ने प्रत्येक प्रान्त के नाट्य साहित्य को प्रभावित किया है। इस प्रभाव से ख्याल और माच अलग नहीं रहे।

माच के प्रवर्तक

१. बालमुकुन्द गुरु

मालवा में प्रचलित माच के आदि प्रवर्तक अवन्तिका निवासी बालमुकुन्द गुरु हैं। किंवदन्तियों के अनुसार गुरु बालमुकुन्द उज्जैन के भागसीपुरे में 'ख्याल' देखन जाया करते थे। उन दिनों नगर का आकर्षण इन्हीं ख्यालों में केन्द्रित हो रहा था। एक दिन भीड़ अधिक होने के कारण उत्सुकतावश वे मंच के एक छोर पर जा बैठे, पर कुछ कार्यकर्त्ताओं ने उन्हें वहाँ से उठा दिया। अपमान का कड़वा घूट पी कर आवेश में उन्होंने नगर के रुद्रसागर में बटुक भेरू की इष्ट साधना की, जिसका मंत्र उन्होंने सुखराम यती से प्राप्त किया था। कहते हैं साधना से प्रसन्न हो कर भेरू ने दर्शन दिये उन्होंने छंद और काव्य-ज्ञान का वरदान माँगा। संवत् १६०१ 'सरसत हिरदे आयी' (सरस्वती हृदय में आयी) और गुरु जी ने माच रचना आरम्भ किया। इस किंवदन्ती से यह प्रकट है कि बालमुकुन्द गुरु के पूर्व अपने ग्रामीण रूप में मालवा में रंगमंच था, जिससे प्रेरणा प्राप्त कर गुरु की प्रतिभा ने उसका नया स्वरूप अभिव्यंजित किया। मुसलमानों के शासन के पूर्व ऐसे मंचों के संबंध में कोई सूत्रबद्ध सामग्री के अभाववश इस विषय में प्रकाश दालना मात्र अनुमान गम्य है। अतएव माच के सन्दर्भ में ग्रामीण मंच की स्थिति का वास्तविक आकलन करना कठिन है।

१६वीं शताब्दी के द्वितीय-तृतीय चरण हिन्दी के रीतिकालीन पतनोन्मुखी समय के सूचक हैं। राज-दरबारों की विलासिता भक्ति पर हावी हो कर अपने विशुद्ध श्रृंगारी रूप में उभर रही थी। आर्थिक संघर्ष नहीं था। तो भी यंत्रों का प्रभाव आरम्भ हो गया था। लोग खाते-पीते सुखी थे। वैचारिक संघर्ष के अभाव में खाना-कमाना, आनन्द करना और जीवन के अन्त समय में भगवत् चिन्तन कर लेने में इतिश्री थी। मालवा प्रारम्भ से ही उपजाऊ रहा है, अतः यहाँ की भूमि से जाग्रति और भी दूर थी। ठीक ऐसे समय बालमुकुन्द गुरु ने मालवी के माध्यम से लोकरंजन के उद्देश्य को लेकर माच नाम नाट्य शैली का प्रवर्तन किया। भक्ति, वैराग्य, श्रृंगार और पौरुषेय भावनाओं का लोकप्राप्ति रूप उनकी रचनाओं में लक्षित हुआ। प्रारम्भ में जिन पाँच माचों को उन्होंने रचा है, उनमें उन्होंने 'निगुणी कथी' है अर्थात् उनकी पृष्ठ भूमि निगुणी कथा-वस्तु से संबंधित है।

रचनाएँ

गुरु बालमुकुन्द ने कुल १६ माचों की रचना की है, जो क्रमशः खेले जाते हैं और जिनमें स्वयं गुरुजी मुख्य पात्र का अभिनय करते थे। आज भी उन्हीं के वंशजों

में वयोवृद्ध ही इस पात्रता का अधिकारी है। उक्त सोलहों रचनाओं की मूल प्रतियाँ गुरुजी की चौथी पीढ़ी के पास सुरक्षित है।

छापेखानों के आरम्भ होते ही गुरुजी ने माचों की मुद्रित प्रतियाँ बाजार में आ गईं। यह बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के पश्चात् ही सम्भव हुआ। यद्यपि, उज्जयिनी में माच के खेलों की प्रतियाँ संवत् १९८२ के लगभग छपकर प्रकाशित हुई, पर इसके पूर्व इन्दौर के किसी मुद्रणालय द्वारा इन्हीं माचों की प्रतियाँ मुद्रित कर प्रकाशित की जा चुकी थीं। कहते हैं उज्जयिनी में भी संवत् १९२० के लगभग माच के खेल छप कर बेचे जाते थे, पर उसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है। उज्जयिनी के ‘दयाशंकर शालिग्राम बुक्सेलर’ ने गुरु के कुछ माच २० × ३० की साइज में अलग-अलग छापे हैं। ‘राजा हरिश्चन्द्र’ (जो पुस्तकाकार संवत् १९८२ में प्रथम बार मुद्रित हुआ) के अन्तिम पृष्ठ पर प्रकाशक ने लिखा है—“अगर हो कि जो खेल पहले छपे थे उस से इन्दौर वाले ने खेल छपाये सो वह खेल बेमतलब हैं। कड़ी में कड़ी नहीं मिलती कफिर बंदी से गलत कड़ी टूट है। किधर का हाथ किधर का पाँव किधर का धड़ किधर का मुँह लगा कर पूरा खेल ऐसा नाम धरके लोगों को धोखा देने वास्ते छपाया है.....”

इससे प्रगट होता है कि संवत् १९८२ के पूर्व शालिग्राम बुक्सेलर ने भी माच की कुछ पुस्तकें अवश्य छपी थीं। माच के अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण ही इन्दौर का कोई बुक्सेलर उन्हें छापकर बेचने का लोभ संवरण नहीं कर सका। ‘नागजी दूदजी’ की तो उक्त संवत् में तीसरी आवृत्ति प्रकाशित हो गई थी। उसमें भी उक्त सूचना छपी है।

बालमुकुन्द गुरु के उपलब्ध माचों की प्रतियों के आधार पर निम्न सूची संवत् एवं आवृत्ति संख्या सहित दी जा रही है :—

नाम	प्रकाशक
१. राजा हरिश्चन्द्र	आवृत्ति प्रथम संवत् १९८२ शालिग्राम बुक्सेलर उज्जैन
२. नागजी दूदजी	” तृतीय ” १९८२ ” ” ”
३. ढोला मारूणी	” छठी ” १९८५ ” ” ”
४. नकल गेंदापुरी	” प्रथम ” १९९० ” ” ”
५. रामलीला	” प्रथम ” १९८२ ” ” ”
६. कुँवर खेर्मासिंह	” प्रथम ” १९८२ ” ” ”
७. सेठ सेठानी	” षष्ठम ” २००७ ” ” ”
८. देवर भौजाई	” दसवीं ” २००९ ” ” ”
९. राजा भरथरी	” दसवीं ” २००९ ” ” ”
१०. सुदबुद सालंगा	” दसवीं ” २००९ ” ” ”
११. कृष्णलीला	अप्रकाशित
१२. खेल रावत	”
१३. चारण बंजारा	”
१४. हीर-रांझा	”
१५. शिवलीला	”
१६. बैताल पच्चीसी	”

गुरु बालमुकुन्द ने अपने सभी माचों का अभिनय उज्जयिनी के जयसिंहपुरा में किया। आज भी वहीं, उसी स्थान पर बालमुकुन्द गुरु की परम्परा के माच होते हैं। यह स्थान उस भैरव मन्दिर के सम्मुख है जिसे स्वयं गुरुजी ने बनवाया था। प्रत्येक माच के आरम्भ में दी गई 'भैरूजी की स्तुति' में इसका उल्लेख है।^१ जयसिंहपुरा माचों के कारण गुरुजी के समय एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। माच के आकर्षण से दर्शकों की एक बड़ी भीड़ वहाँ खिंचा करती थी। अपने एक पात्र द्वारा स्वयं गुरुजी ने इस बात को व्यक्त किया है—

“भोपाल सेर से चल कर आयो, उज्जैन सेर देखूँ गा बस्ती।

जैसिंगपुरा में माच बण्यो है, मूलकों की आलम वां ठसती।”

गुरु बालमुकुन्दजी के जीवन-काल में ही माच का प्रचार दूर-दूर तक हो गया था। उनकी मूल प्रतिलिपि करके उन्हीं के शिष्य गाँव-गाँव में फैल गये। अत्युक्ति न समझी जावे तो परम्परा हाथरस और पंजाबी तक पहुँची। गुरु के समकालीन सिधिया नरेश (महादाजी सिधिया) ने तो उन्हें ग्वालियर में आमन्त्रण कर माच का अभिनय करवाया था। निकटवर्ती होल्कर नरेश ने उनके माचों से प्रभावित होकर बहुत सी भूमि दान में दी थी।

गुरु बालमुकुन्दजी की मृत्यु संवत् १९३० में रविवार के दिन हुई।^१ कहते हैं उस समय वे 'गेन्दापरी' का अभिनय कर रहे थे। अन्धविश्वासी लोग गेन्दापरी को ही गुरु की मृत्यु का कारण समझते हैं। माच से उठा कर ही उनका शव चक्रीय ले जाया गया। शव-यात्रा के समय अर्थी के आगे-आगे उनके शिष्य माच गाते हुए चलने लगे। माच के संगीत से ही उनके शव का अग्नि-संस्कार किया गया। माच की प्रसिद्धि और माचकार के सम्मान का इससे बड़ा उदाहरण क्या हो सकता है?

गुरु का कण्ठ खुला हुआ और प्रभावी था। अभिनय के समय उनकी वाणी और व्यक्तित्व लोक-हृदय को प्रभावित करने में बेजोड़ थे। माच के प्रवर्तक के रूप में गुरु की साधना मालवी-लोक-नाट्य के क्षेत्र में अविस्मरणीय घटना है।

२. कालूराम उस्ताद

बालमुकुन्द गुरु के माचों की लोकप्रियता ने उज्जैन के प्रतिभाशाली कवि कालूराम उस्ताद को कुछ वर्षों के पश्चात् नवीन माच रचनाओं के सृजन की प्रेरणा प्रदान की।

१. रंगीला है भैरव का ध्यान

सारदा दो हिरदा में ग्यान। टेक।

विशाल रूप छोटी-सी मूरत

करो दुस्मन की हान।

जैसिंगपुरा में राज तमारो,

ओर चारी खूँट में मान॥

कालो गोरो पालक मेरो,

खेल रच्या जोगान।

साँचे का सनमान जो देव

मार बुष्ट कू जान॥ टेक॥

२. सत्य हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ५।

३. 'बालमुकुन्दजी संवत् १९३० साल में बैकुंठ को प्राप्त भये।'—नागजी बूबजी, पृष्ठ ६८।

यह प्रेरणा वस्तुतः गुरु बालमुकुन्दजी की दूसरी पीढ़ी के साथ स्पर्धा के रूप में विकसित हुई। गुरु की मृत्यु के लगभग २० वर्ष के बाद हो कर भी अपनी प्रतिभा और परिश्रम के आधार पर कालूराम उस्ताद ने अपनी रचनाओं का अभिनय-क्षेत्र उज्जयिनी के दौलतगंज में बनाया। दौलतगंज माच के दूसरे अखाड़े का स्थान इसलिये भी बना कि स्वयं उस्ताद उसी मोहल्ले में रहते थे, जहाँ उनकी पीढ़ी के लोग आज भी रहते हैं।

उनके माचों के नाम इस प्रकार हैं :—

- | | |
|--------------------|------------------------|
| १. प्रह्लाद लीला | १०. नागमती† |
| २. हरिश्चन्द्र | ११. राजा छोगरतन† |
| ३. रामलीला | १२. सूरजकरण-चन्द्रकला† |
| ४. चित्र मुकुट† | १३. डोल सुल्तानी |
| ५. मधु मालती† | १४. राजा रिसालु |
| ६. चन्द्रकला | १५. इन्द्रसभा |
| ७. हीर रांझा | १६. छत्रीली भटियारिन |
| ८. निहालदे सुल्तान | १७. त्रिया-चरित्र |
| ९. जान आलम† | १८. हीरा-मोती |

उक्त माचों का प्रचार बालमुकुन्द गुरु की रचनाओं के साथ होता गया। उक्त सभी रचनाएँ १९५० के पश्चात् आगामी ३५ वर्षों के बीच लिखी गई प्रतीत होती हैं। कहते हैं उस्ताद की कुछ और भी रचनाएँ हैं, जो पूर्ण नहीं हैं और उनके वंशज शालिग्राम जी के पास वे सब सुरक्षित हैं। कालूरामजी के माचों के प्रचार का कारण यह भी था कि उन्हें प्रथम बार बाबाजन^१ नामक एक सुन्दर गायिका को मंच पर उतारा। बाबाजन अपनी सुस्पष्ट, ऊँची और मधुर स्वर के लिये प्रख्यात रही हैं। इस प्रकार कालूराम उस्ताद ने बालमुकुन्द गुरु की उस परम्परा को, जो स्त्री-पात्र को मंच के लिये वर्ज्य समझती थी, तोड़ कर नया आकर्षण आयोजित करने में सफलता प्राप्त की।

कालूराम उस्ताद और बालमुकुन्द गुरु के अधिकांश माचों की कथावस्तु में विशेष भेद नहीं है। गुरु की अपेक्षा उस्ताद की रचनाएँ शृंगारी अधिक हैं। गुरु और उस्ताद में जो भेद है वही भेद रचनाओं की प्रवृत्तियों में लक्षित होता है।

कालूराम और बालमुकुन्द गुरु—दोनों अखाड़े आज तक ग्रामीण जनता और नगर के लिये मनोरंजन के साधन बने हुए हैं। दोनों के बीच स्पर्धा संबंधी अनेक कथाएँ लोगों में प्रचलित हैं। यह स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि एक-दूसरे के मंच से खेलों के बीच-बीच में पद्यबद्ध अपमानजनक व्यंग्योक्तियाँ कही जाने लगीं।

कालूराम उस्ताद के प्रमुख साथियों में मुखदेव और पन्नालाल लावनीबाज में काव्य-प्रतिभा थी। उनकी अनेक कविताएँ संवत् १९६६ के सिंहस्थ में छपकर बहुत प्रसिद्ध हुईं। उनमें तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता का प्रभाव स्पष्ट है जिनका कालूराम उस्ताद की रचनाओं में भी अभाव है।

†. प्रकाशित।

१. 'बाबाजन' का ८४ वर्ष की अवस्था में सन् १९४८ की १५ जनवरी को देहावसान हुआ। दिल्ली की एक रेकार्ड कम्पनी ने उसके चार रेकार्ड तैयार किये थे, जो कालूराम जी के पुत्र शालिग्राम जी के पास हैं। बाबाजन मर्दाना वस्त्र धारण करती और सिर पर साफा बांधा करती थी।

कालूरामजी का उपनाम 'दुर्बल' था। आपमें अभिनय की प्रतिभा न थी। केवल रचनाकार के नाते ही अपनी परम्परा चलाने में सफल हुए। लगभग ४० वर्ष की अवस्था में आपकी मृत्यु हुई।

३. भेरू गुरु

कालूराम उस्ताद के समकालीन उज्जयिनी के ही नये पुरे का एक दल भेरू गुरु की प्रेरणा से अपनी अलग परम्परा ले कर माच खेलने लगा। भेरू गुरु रचित १२ माचों की जानकारी डॉ० चिन्तामणी उपाध्याय को अपने अनुसंधान के क्रम में प्राप्त हुई है। उनके कथनानुसार जो पुस्तकें उन्होंने देखीं, वे सभी हस्तलिखित एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्था में हैं। नवापुरा का दल भेरू गुरु के ५ खेल तो प्रतिविर्ष करता ही है, यद्यपि माचों की संख्या १२ है, जो निम्नलिखित हैं:—

- | | |
|--------------------|---------------------|
| १. गोपीचन्द | ७. छैल बेटा मोयना |
| २. राजा विक्रमाजीत | ८. चन्नन कुँवर |
| ३. पूरणमल | ९. खेमासिंह आंवलदे |
| ४. हीर-रांझा | १०. मदन सेन |
| ५. कुँवर केसरी | ११. सीता-हरण |
| ६. लाल सेठ | १२. सिंगासन बत्तीसी |

अतएव स्पष्ट है कि उक्त माच-रचनाकारों के नाम माच की चार परम्पराओं का आरम्भ उज्जयिनी में हुआ जो आज भी विद्यमान है। उक्त ५५ माच रचनाओं में निम्नलिखित कथाओं को दो या दो से अधिक रचयिताओं ने अपनाया है।

१. हरिश्चन्द्र (बालमुकुन्द गुरु, कालूराम उस्ताद)
२. रामलीला (" ")
३. हीर-रांझा (बालमुकुन्द, कालूराम, भेरू, राधाकिशन)
४. गोपीचन्द (भेरू और राधाकिशन)
५. खेमासिंह (बालमुकुन्द और भेरू)
६. त्रिया चरित्र (कालूराम और राधाकिशन)

प्रायः सभी माचकारों की वही शैली और वही धज है जो बालमुकुन्द गुरु में थी। इस बीच मालवा के गूजर गौड़ों ने भी अपनी परम्परा चलाना चाही, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

नये माचकार

राधाकिशन गुरु की परम्परा में नाथूसिंह उस्ताद ने (१) 'शनि महाराज' और (२) 'सत्य नारायण की कथा' पर माच लिखे हैं। दूसरा माचकार सिद्धेश्वर सेन है, जिसने संवत् २००५ और २०१० के मध्य (१) 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' (२) 'नल दमयन्ती', (३) 'नरसिंह मेहता' (नानीबाई को मामेरो), (४) 'भक्त प्रह्लाद', (५) दयाराम गूजर और (६) 'राजा रिसालू' खेलों की रचना नये ढंग से की है। राधाकिशन गुरु के माच के साथ कभी-कभी उक्त रचनाओं से किसी भी माच का अभिनय कर दिया जाता है। इन नये माचों में अश्लीलता का तनिक भी स्पर्श नहीं है, यद्यपि कथाएँ प्रायः ख्यालों से प्रभावित शैली में लिखी गई हैं। इस परम्परा में 'छप्पन भैरव की जय' बोली जाती है।

१. छप्पन भैरव ब्रह्म पोल में बाधन बीर अगवान।

हर दम हाजर रहे माच पे ले तीर कमान।

—स्तुति की पंक्तियाँ

अन्य नये माचकारों में सेवाराम परमार ने (१) ‘ध्रुव प्रह्लाद’ एवं (२) ‘निहालदे’ की रचना की है। नीमच के ख्यालकार रामजीलाल बन्धु, लालजी नन्दराम, मुड़वेवाले रामरतन दरक, बड़नगर के शिवरामजी व्यास भी उल्लेखनीय हैं। जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है उक्त चार परम्पराएँ ही मालवा की जनरुचि को प्रभावित किये हुए हैं। यद्यपि स्थूल रूप से मालवा के माचों की प्रवृत्ति शृंगारी है तथापि शिक्षा के अभाव में लिखे गये स्थानीय भाषा के इस साहित्य का इसलिये महत्त्व अधिक है कि यह पिछले डेढ़ सौ वर्ष से लगभग ६०-७० लाख मालवी भाषा-भाषी लोगों को सत् रूप से प्रभावित करता आ रहा है।

वस्तु-विश्लेषण

कथा-वस्तु की दृष्टि से उपलब्ध माच-साहित्य (१) पौराणिक, (२) प्रेम कथात्मक, (३) ऐतिहासिक और लोक कथात्मक है। ऐतिहासिक कथानकों में शृंगार परव वस्तु का बहुत महत्त्व है। शौर्य के साथ प्रेम की व्यंजना कथानक का लक्षण है धार्मिक वस्तु पौराणिक भेद के अन्तर्गत है। प्रेम कथात्मक एक लोक कथात्मक माच स्थूल रूप से लोक परक है, जिसका स्वरूप या तो पूर्व प्रचलित ख्याल-परम्परा से लिया गया है अथवा किंवदन्तियों के आधार पर जिनकी रचना की गई है। ‘ढोला मारूणी ऐतिहासिक और लोक-काव्य दोनों हैं। बालमुकुन्द गुरु द्वारा प्रयुक्त कथावस्तु को स्थूल रूप-रेखा से ज्ञात होता है कि उन पर लोहबन के मदारी रचित ढोला का अधिक प्रभाव पड़ा है। कथा की जो संक्षिप्त योजना मदारी के ‘ढोला’ में है वही संक्षिप्तता गुरु ने ‘ढोला मारूणी’ में पाई जाती है, फिर मदारी का ढोला निश्चय ही गुरु के पूर्व की रचना है जो ब्रज-क्षेत्र में खूब प्रचलित रही है।’ गुरु का ‘ढोला मारूणी’ राजस्थान ‘ढोला मारूरा दूहा’ अथवा ‘छत्तीस गढ़ी लोक-गीतों का परिचय’^१ में संकलित ढोल अथवा ब्रज के ढोला काव्य की आत्मा से अनुप्राणित संगीत नाट्य मात्र है। प्रस्तुत माच में कथा ढोला के आगमन से आरंभ होती है। वह सांझी (जुँटनी) पर सवार हो क आता है। यद्यपि माच पर सांझी नहीं होती, केवल ‘बोल’ द्वारा उस सांझी का आगम अनुमानित कर लिया जाता है। उधर मारू का वियोग तोते द्वारा संदेह और रेवा द्वारा विघ्न पैदा करने की योजना की जाती है, किन्तु अन्त में सुखद मिलन में कथा समाप्त होती है। प्रधानतः राजस्थानी ढोला के समस्त उपकरण—रेवा, ढाड़ी, सुआ, करहरा, आदि कथा में योग प्रदान करते हैं। मालवी के इस माच में नल-दमयन्ती का प्रसंग अस्वाभाविक रूप से जुड़ गया है और ढोला नल का पुत्र बताया गया है।

कथा के विस्तार का अभाव प्रायः सभी माच रचनाओं में है। ‘नागजी दूदजी’ ‘निहालदे सुल्तान’, ‘सुदबुद सालंगा’, ‘राजा भरथहरी’ आदि राजस्थानी ख्याल के कथानकों का निर्माण ख्याल के ढंग पर ही है। कालूराम उस्ताद के माचों में प्रायः सभी कथानक शृंगारी हैं और उनमें प्रेमाश्रयी शाखा की ‘मधुमालती’, ‘चन्द्रकला’, ‘हीर-रांझा’ जैसे कथावस्तुओं का सदुपयोग किया है। कुछ ऐसी कथाएँ हैं जो माच के अतिरिक्त ख्याल की रचनाएँ अधिक हैं। ‘राजा हरिश्चन्द्र’, ‘सेठ-सेठानी’, ‘ढोला मारूणी’, ‘देवर भोजाई’, ‘सुबबुद सालंगा’, ‘राजा भरथरी’, चारण बनजारा’ ‘हीर-रांझा’ आदि माचों की कथाओं

१. देखिये, डा० सत्येन्द्र का ‘ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन’—पृष्ठ १०६ और ३७७।

२. इयामाचरण बुबे—‘छत्तीसगढ़ी लोक गीतों का परिचय’।

पर की कुछ ख्याल रचनाएँ मिलती हैं जिनमें इन कथाओं की लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है।

चरित्र-चित्रण

माच में चरित्र-चित्रण के विस्तार के लिये सूक्ष्म तत्वों का आश्रय लेना सम्भव नहीं। संगीत शैली की संवाद योजना प्रत्येक चरित्र की उठान के लिये गायन के कौशल पर ही निर्भर है। मंच पर जो पात्र अच्छा गा जाये वही जनता की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है। आत्म-परिचय की पद्धति कभी-कभी चरित्र की अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालती है। प्राचीन रासों में यह प्रवृत्ति विद्यमान थी। अतः माच में चरित्र-चित्रण का विस्तार थोड़ी ही मात्रा में संभव है।

पात्र

माच के पात्र दो भाग में विभक्त हैं : (१) स्त्री पात्र और (२) पुरुष पात्र। प्रायः प्रत्येक माच में पाँच स्त्री पात्रों का होना अपेक्षित है। अतएव पुरुष पात्र की अपेक्षा स्त्री पात्र की संख्या कभी-कभी अधिक हो जाती है।

नायक का प्रमुख साथी शेरमारखाँ कहलाता है (बालमुकुन्द गुरु के साथी ऊँकारजी थे)। शेरमारखाँ विदूषक का अभिनय भी करता है जिससे जनता का मनोरंजन होता रहे। नायक को विश्राम देने के लिये शेरमारखाँ नायक का प्रतिनिधित्व भी करता है। गुरु बालमुकुन्दजी के समय स्त्री पात्र अभिनयार्थ गोविन्दा, कूरा, टोडूलाल और लक्ष्मण की जोड़ें प्रसिद्ध थी। रामाजी कोली, बेनिया ब्राह्मण और भागीरथ पटेल ने भी बाद में इस दिशा में प्रसिद्धि प्राप्त की।

अभिनय के समय पात्र का प्रवेश पूर्वपात्र द्वारा ही सूचित किया जाता है। अवाञ्छनीय पात्र मंच के एक ओर बने रहते हैं। पात्र अपने बोल को समाप्ति पर स्वयं ही मंच के एक ओर जा बैठते हैं।

संवाद

माच के संवाद जैसा कि ऊपर बताया गया 'बोल' कहलाते हैं। ये बोल गेय हैं। गद्यात्मक संवाद माच में नहीं पाये जाते। प्रश्न भी पद्य-वद्ध होते हैं और उनके उत्तर भी।

रस और अलंकार

माच के साहित्य में संगीत के अतिरिक्त बोल का विषय रस-सृष्टि का महत्वपूर्ण माध्यम है। श्रोता लोक-साहित्य की सहज अलंकारिता के बीच बोल की प्रत्येक उठान को ध्यान से सुनते हैं। साधारण उपमा, रूपक, यमक और अनुप्रास के उदाहरण माच में मिलते हैं। करुण, शान्त और शृंगार का समन्वय रस की दृष्टि से उल्लेखनीय है। शेरमारखाँ नामक पात्र बीच-बीच में हास्य-रस की सृष्टि करता है।

दृश्य-योजना

दृश्य-योजना श्रोता और पात्र दोनों के लिये कल्पना-जन्य वस्तु है। पदों के अभाव में दृश्य का आभास कभी-कभी संवादों द्वारा प्राप्त हो जाता है। अन्यथा मात्र कल्पना से दृश्य की मानसिक उद्भावना की जाती है।

माच की बणगट

बणगट का तात्पर्य माच की छन्द-योजना और तन्त्र से है। माच के लिये वैसे कोई निर्धारित छन्द नहीं है; किन्तु उसकी विशेष संगीत शैली ही उसके तन्त्र का आधार

है। यद्यपि ‘रंगतों’ के रूप में धुन की परिवर्तनशीलता व्यक्त होती है, तथापि छन्द-रचना की दृष्टि से माच दूहों पर लिखे गये हैं। दूहे ‘लगड़ी’, ‘दोकड़ी’ और ‘इकहरी’ रंगत में गाये जाते हैं। ‘झेला’ की रंगत दूहों के बीच स्वर बदलने के लिये चलती है। जहाँ लोक-गीतों का प्रयोग होता है वहाँ दूहों की बंदिश नहीं रहती। परम्परागत धुन के बन्धन उसकी बणगट को प्रभावित करते हैं। इस तरह के गीत केवल प्रसंग विशेष के बीच में आते हैं और जो सामूहिक स्वरों में ही गाये जाते हैं। दोहों के स्वरूप इस प्रकार हैं।

॥ रंगत दोहरी ॥

हूँ तो म्हारे तारा लोचनी तार । सत को करां समी सिनगार ॥ टेक ॥
पति हमारा सतवादी हरिचन्द सत की बांदी कार । सत धरम की नाव
बनई के उतरांगा सम्दर पार ॥ १ ॥

टेक : ३५ मात्राएँ ।

दोहा : २६ मात्राएँ ।

ये जी म्हारो पीयु गयो परदेस । जाजम कहाँ बिछावाजी ॥ टेक ॥
जाजम पर सतरंजी गदरा झीनी चादर बेस । तकिया और गुलतकिया
कंये फूलां चूनीजी सेज ॥ १ ॥

टेक : ३५ मात्राएँ ।

दोहा : २६ और ३० मात्राएँ ।

दोहे की दूसरी दौड़ देखिये—

अजी सत का राजा सत की रानी

सत का जीमें असमान तानी

अजी सत का पवन, सत का पानी

सत की राजे बोले बानी

मात्राएँ : ३६

मात्राएँ : ३४

और भी अन्य उद्धरणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि माच का दोहा २६ मात्रा से ४० तक दौड़ता है।

टेके के बाद दोहों में संवाद (बोल) व्यवस्था होती है। प्रत्येक दोहे के बाद टेक दुहराई जाती है। जहाँ तक हस्तलिखित पोथियों का प्रश्न है, प्रत्येक प्रसंग के दोहों पर धुन का निर्देश लिखा मिलता है। कभी-कभी एक ही बोल में टेक भी बदल जाती है। माच के संगीत के संबंध में उल्लेख करते हुए बताया गया है कि माच की बणगट रंगतों के अनुसार बदलती है। टेक से ही रंगत का स्वरूप ज्ञात होता है और अन्तरा दोहा बंद में दौड़ता है।

संगीत-पक्ष

ढोलक माच का मुख्य वाद्य है। सारंगी उसकी साथिन है। ढोलक की थाप और सारंगी की ‘मीड़ी’ पर बोल (संवाद) की लयकारी गमकती है। श्रोतागण बोल के कौशल पर ‘कई की है’ (क्या कही है?) कह कर झूम उठते हैं। बालमुकुन्द गुरु

का समकालीन 'बापू उस्ताद' अपने समय का विख्यात ढोलकिया था और उसका भाई 'थावरजी' सारंगी के तारों पर अपनी अँगुलियाँ इस अन्दाज से फेरता कि 'बोल' और स्वरों में भेद करना कठिन हो जाता था। माच में ढोलक की थापें अलग ही होती हैं जो बोल की टेक पर 'ढोलक तान फड़के' अथवा 'ढोलक सच्ची बाजे' पदांश के अनुकूल द्रुतगति से 'तीये' में सम पर आती है।

बालमुकुन्द गुरु से लगा कर वर्तमान माचकारों तक कुछ प्रसिद्ध ढोलकियों और सारंगी साजों की जानकारी निम्न क्रम से प्राप्त हुई है :—

(अ) **ढोलकिये** : बापू उस्ताद (बालमुकुन्द के समकालीन); आत्माराम (बापू उस्ताद के भानेज); दुलीचन्द (आत्माराम का ज्येष्ठ पुत्र)—बुढ़िया; नागरजी; गल्लाजी, आदि।

(आ) **सारंगी साज** : थावरजी (बापू उस्ताद के आता); आत्माराम (थावरजी और बापू के भानेज); भागीरथ (आत्माराम के छोटे पुत्र), आदि।

माच के बोल गाने की अपनी शैली है। उसमें लोक-संगीत के अन्तर्गत प्राप्त सादी धुनें और मालवा के ऋतु-उत्सवों के गीतों की शैली प्रचलित है। टेक प्रायः लम्बी चलती है। माच के लोकोन्मुखी संगीत की विभिन्न धुनों को व्यक्त करने लिये 'रंगत' शब्द का प्रयोग किया जाता है। शास्त्रीय संगीत में जिस प्रकार रागों के नाम हैं, उसी तरह स्वच्छन्द रूप में माच-परम्परा में रंगतें भी अपनी विभिन्नता—रंगत इकहरी^१, रंग मारवाड़ी, रंगत दोकड़ी,^२ रंगत खड़ी, रंगत झेला की, रंगत छोटी चलन, रंगत ताल ठेका की, रंगत कलिंगड़ा, रंगत सिन्दू (छोटी बड़ी), रंगत बड़ी चलन, रंगत बदावा, रंगत उड़ाव, इकरंग आदि सांकेतिक पदों द्वारा ज्ञापित है। रंगतों के अतिरिक्त माचकारों ने लोकगीतों की शैली का भी समावेश किया है। राग हलूर (देखिये 'सेठ-सेठानी') में 'महाराराज' की टेक मालवी-राजस्थानी-गुजराती गीतों के कुछ लोकगीतों की समान एवं प्रख्यात टेक है। इस दृष्टि से 'हलूर' पूर्णतः लोक-धुन है। रंगत दादरा के बोल में 'रे' का प्लुप्त उच्चारण और 'रंगत बदावा' में मालवी 'बधावा' गीतों की धुन निहित है। जहाँ गजल का प्रयोग किया गया है वहाँ बोल का 'जुवाब' (प्रतिसवाद) भी गजल में ही कहा गया है। माहेरा के गीत 'रंगत मामेरा', गालगीत, दोहे और पारसियाँ (पहेलियाँ) भी गायी जाती हैं। प्रमुखतः लोक-संगीत के एक पक्ष को छोड़ कर माच का अपना विशिष्ट संगीत है। उसमें ध्वनि की ऊँचाई, तान भरने की क्षमता, बोल में 'लहरावे' की सुयोग्यता, एवं ढोलक के साथ गाने की सामर्थ्य का विशेष महत्त्व है।

माच के बोल का प्रारम्भिक 'गेर' और अन्तरे की पंक्तियाँ 'उड़ा' तथा तानों का प्रवाह 'चलत' कहलाता है।

[माच की प्रसिद्ध धुन की स्वर-तालिका बोल के साथ परिशिष्ट में देखिये ।]



१. एक ही प्रवाह में सम्पूर्ण बोहा कहना।

२. टेक को बुहरा-बुहरा कर कहना।

नौटंकी, स्वांग या भगत

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर रीतिकाल का आरम्भ संवत् १७०० के लगभग माना है। इस काल में ऐहिक शृंगार अपनी उदाम प्रवृत्तियों सहित न केवल राज-दरबारों में प्रकट हुआ, सामान्य जनता में भी उसकी पनपने का अवसर प्राप्त हुआ था। जहाँ तक लोक-मंच का प्रश्न है, ऐहिक शृंगार की प्रवृत्ति उसके लिये नवीन नहीं थी। भाण, स्वांग, प्रभृति के रूप में लोक-मंच पर भेदे से भेदे दृश्य परिस्थिति और वातावरण में सहज ही उद्भूत होते रहे हैं। यद्यपि भक्ति-काल में विभिन्न धार्मिक मतमतान्तरों के प्रभाववश मंच की अधिकांश सामग्री धर्म-प्रधान रही तथापि उसके भीतर शृंगार की ऐसी धारा बहती रही, जो मौका पा कर राज-दरबारों की विलासिता और राष्ट्रगत शान्ति के वातावरण में, परोक्ष और अपरोक्ष रूप में प्रेरणा पा कर, पूरे वेग से ऊपर आ गई। नौटंकी, स्वांग, भगत आदि के शृंगारी रूप इसी काल में नियोजित हुए, जिनमें आज तक बहुत कम परिवर्तन हो पाया है।

स्व० जयशंकर प्रसाद ने 'रंगमंच' निबन्ध में नौटंकी की चर्चा की है। उन्होंने कदाचित् नौटंकी को 'नाटकी' का अपभ्रंश माना है। लिखा है—“नौटंकी और भांडों में शुद्ध मानव संबंधी अभिनय होते हैं। मेरा निश्चित विचार है कि भांडों की परिहास की अधिकता संस्कृत भाण मुकुन्दानन्द और रससदन आदि की परम्परा है और नाटकी की अधिकता प्राचीन राग-काव्य अथवा गीति-नाट्य की स्मृतियाँ हैं।” ‘कपूर मंजरी’ में राजशेखर ने सूत्रधार द्वारा 'सटुक' को नाटिका के लक्षणों से युक्त बताया है। केवल प्रवेशक और विष्कम्भक का उसमें लोप होता है—

सौ सटुओत्ति भण्णइ वूरं जो अडियाए अणुहरवि ।

किपुण पयेस विवखंभआई इह केवलं णत्थि ॥

‘सौ, सटुक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है—नौटंकी की तरह।’ पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है—“लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देख कर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें (सटुक एवं रासक) रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था। इन शब्दों का अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरंजन थे।”

इससे यह कहने में आपत्ति न होगी कि नौटंकी (नाटकी) आधुनिक वस्तु नहीं है, चाहे वर्तमान रूप उसका कितना ही आधुनिक क्यों न हो। ‘तारीख-ए-अदब-ए उर्दू’ ग्रन्थ में डॉक्टर रामबाबू सक्सेना ने इस विषय में लिखा है कि नौटंकी का आरम्भ उर्दू कविता और लोक-गीतों से हुआ। उन्हीं के शब्दों का समर्थन करते हुए कालिका-प्रसाद दीक्षित ‘कुसुमाकर’ लिखते हैं—“सम्भवतः सर्वप्रथम नौटंकी ‘हीरारांझा’ की कथा थी जो आज भी पंजाबी लोक-गीतों में अपना विशेष महत्त्व रखती है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में इसका जन्म-काल मानना चाहिये।” इसके जन्मदाता मल्ल, रावत और रंगा थे, जो ढोलक पर अभिनय किया करते थे। मल्ल जाट, रावत राजपूत और रंगा जुलाहा था। नौटंकी में जवाब रंगा का आता है जिसका संबंध नौटंकी के साथ प्रवर्तक से ही है। १३वीं शताब्दी में अमीर खुसरो के प्रयत्न से नौटंकी को आगे

१. हिन्दुस्तानी : त्रैमासिक : जुलाई, १९३७ पृष्ठ २५५।

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् : पृष्ठ ६६-१०१

बढ़ने का मौका मिला और कुछ ऊँचे स्तर के लोगों का ध्यान इसकी ओर गया। खुसरो स्वयं जिस भाषा का प्रयोग अपनी रचनाओं में करते थे, वैसी ही भाषा और उन्हीं के ढंग के छन्दों का प्रयोग नौटंकी के कथानकों में बढ़ने लगा।^१ १८वीं शताब्दी तक आते आते नौटंकी समस्त उत्तर भारत में फैल चुकी थी। जहाँ-जहाँ लोक प्रचलित मनोरंजन के साधन विद्यमान थे, उसका सम्पर्क नौटंकी की प्रवृत्तियों से होने लगा। इसलिये आगे चल कर यदि नौटंकी काफी विकृत वस्तु बन गई तो आश्चर्य ही क्या है !

उत्तर भारत में नौटंकी को स्वांग या भगत भी कहते हैं। स्वांग ठेठ ग्रामीण मनोरंजन है। संत तुकाराम के समय महाराष्ट्र में स्वांगों का प्रचार था। शृंगारिकता अथवा फूहड़ किस्म के अभिनय के कारण तुकाराम ने स्वांग का विरोध भी किया था। उनके समय स्त्रियों का वेष बनाने की प्रथा वैसी ही थी, जैसी आजकल पुरुषों द्वारा स्वांग बनाने की। नौटंकी में मूँछवाले तक स्त्रियों के कपड़े पहन कर अभिनय के लिये मंच पर आते हैं, यह भी एक प्रकार का स्वांग ही है। “स्त्री वेष घेतलेल्या नटाचें तोंड सुद्धां पाहूँ न” (स्त्री वेष धारण करनेवाले नट का मुँह तक न देखना चाहिये, यह तुकाराम के एक अभंग में वर्णित है। श्रीधर स्वामी (१७वीं शताब्दी का आरम्भ) रचित ‘शिवलीलामृत’ ग्रंथ में तो यहाँ तक कहा गया है कि पुरुष को स्त्री वेष में देखते ही स्नान करना चाहिये। ऐसा देखने पर अध-पतन होता है और वेष धारण करनेवाले तो स्त्री हो कर ही जन्म लेते हैं।^२

इसके पूर्व भी स्वांग का उल्लेख हिन्दी में उपलब्ध है। सिद्ध कवियों में कन्हूपा (१६वीं शताब्दी) ने और कबीर ने अपनी एक साखी में स्वांग का उल्लेख किया है। उत्तर भारत में आजकल डोम जाति द्वारा स्वांग करने की परम्परा है। कन्हूपा ने उसी जाति की स्त्री डोमनी का स्वांग के हेतु आह्वान किया है—

“अलौ डौबि ! तोए सम करिब म सांग निधिण कन्हूपाली जोई जग”

जायसी ग्रंथावली में भी अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ में एक वेश्या जोगिन का स्वांग धारण करके पठायी जाती है। “पातुरि एक हुति जोगी सवांगी। साह अखोर हुत ओहि मांगी।” (बादशाह दूती, खण्ड-१)। स्त्रियों द्वारा वेष बनाने की प्रथा अब उठने लगी है। इसीलिये पुरुषों द्वारा क्रमशः स्त्री का स्वांग धारण करने का रिवाज चल पड़ा। इसके पार्श्व में विनोद निहित है। पुरुष मनोरंजनार्थ स्त्री का स्वांग और स्त्री पुरुष का स्वांग बनाती है। स्त्री-स्वांग की प्रथा राजस्थान, पंजाब, मालवा और गुजरात की स्त्रियों में अब भी बची हुई है, जो मनोरंजन के हेतु विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर दूल्हा-दूल्हन की नकल, आदि विभिन्न रूपों में दीख पड़ती है।

मध्यवर्ती भारत के गाँवों में प्रायः बेड़िनियों के ‘राई’ नाच हुआ करते हैं। उस अवसर पर गाँव के लोग हास्य उत्पन्न करने के लिये स्वांग करते हैं। बेड़नी भी गीतों में स्वांग गाती है। ये स्वांग थोड़ी-सी पंक्तियों में होते हैं, जिनका उद्देश्य हास्य और शृंगार की वृद्धि करना मात्र होता है। बेड़नी का एक स्वांग गीत लीजिये :—

१. हिन्दुस्तान साप्ताहिक : ६ सितम्बर, १९५७ : पृष्ठ २५।

२. “पुरुषांस स्त्री वेष देखतां साचार। सचेल स्नान करावें ॥

पुरुषांस नारी वेष देखातां। पाहणार जाती अथः पाता।

वेष धेणार ही तत्वतां। जन्मो जन्मो स्त्री होय—।”



‘नौटंकी’ का एक दृश्य



मन में बस गई मोरे

नैना रतनारे सूरत श्यामली ।

राजा जिन मोई साव

कड़ गई लड़कपन की देहरा

जिन मारों नैना बान

जेखों लगे ओई जाने

राजा अब जिन सताव

कड़ गई लड़कपन की देहरा ।--(बुन्देलखण्ड)

सन् १९१० की 'इंडियन एंटीक्विरी' (जनवरी) की फाइलों में रामगरीब चौबे द्वारा स्वांग की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। उनके अनुसार सन् १८१९ के आस-पास अम्बाराम नामक गुजराती ब्राह्मण ने जो सहारनपुर में रहा करते थे, नये ढंग से स्वांगों की रचना की। श्री दशरथ ओझा ने एक वार्ता के आधार पर दीपचन्द नामक एक स्वांगकार का उल्लेख किया है। कहते हैं इसका कला संबंधी उत्कर्ष १९वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। उसने श्रृंगारिकता का बहिष्कार किया और वीर-रस से परिपूर्ण स्वांगों की रचना की, जिन्हें उनके शिष्य रोहतक की ओर ले गये, जहाँ वे अब भी प्रचलित हैं।

ब्रज की ओर खुले रंगमंच पर नौटंकी के ढंग की भगत होती। डॉ० सत्येन्द्र का कथन है कि 'ब्रज' में दो प्रकार की भगत मिलती है—एक आगरा वाली और दूसरी हाथरस वाली। स्वांग भी हाथरस और रोहतक के भिन्न है। "हाथरस की भगत" या नौटंकी का प्रचार नाथाराम ने किया। उनकी भगत के चौबोलों की पुस्तकें बाजार में मिलती हैं। ये चौबोले छोटी तान के होते हैं। आगरा के चौबोल लम्बी तान के होते हैं।" उर्दू का एक छन्द है—'बहरे तबील (बहर=छन्द, तबील=लम्बा) जो लम्बा होता है, आगरा की नौटंकियों में विशेषतः पाया जाता है। उनके चौबोले इसीलिये लम्बी तान के होते हैं। मालवा, निमाड़ और राजस्थान में 'किलगी-तुरी' नामक लोकरंजन का एक काव्य संगीतबद्ध साधन प्रचलित है, उसमें चौबोलों पर लावनियों की श्रृंगारिकता हावी हुई। उनमें चलनेवाला संगीत प्रायः उसी ढंग का मिलता है। 'बहरे तबील' की एक पंक्ति है :—

ये रावण तू धमकी दिखाता किसे,

मुझे मरने का खौफो-खतर ही नहीं। (नौटंकी रामायण)

भगतों में विविध प्रकार की लीलाएँ खेली जाती हैं। स्वांग का इनमें पूरी तरह से समावेश है। ऊँचे मंच पर ये भगतें सप्ताह तक चलती हैं। नौटंकी में आल्हा-छंद का प्रयोग वीर-रस को उत्कर्ष प्रदान करने के लिये किया जाता है। भगतें भी वैसे ही आल्हा से प्रभावित हैं। जिस प्रकार मोरध्वज, हरिश्चन्द्र, आदि धर्म प्रधान कथानक भगतों में प्रचलित हैं, उसी प्रकार जानआलम, भक्त पूरनमल, सियाहपोश आदि श्रृंगार-कथानकों का वर्णन आल्हा के ढंग पर इनमें मिलता है। 'बहरे तबील' श्रृंगारी भावों को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त, है पर कई नौटंकियों में युद्ध आदि का वर्णन इसी छन्द में हुआ है। हाथरस की कई भगत-मंडलियाँ इन दिनों रासवालों से मिल-जुल गई हैं। यद्यपि स्वतंत्र अखाड़े भी अपने-अपने क्षेत्र में गतिशील हैं। जहाँ संयोग हुआ है, वहाँ मिश्रित नाट्य परम्परा स्वाभाविक रूप से मंच पर दीख पड़ने लगी है।

नौटंकी, स्वांग या भगत का मंच खुले स्थान पर बनाया जाता है। मंच काफी ऊँचा बनाया जाता है। ऊँची-ऊँची बल्लियों पर शामियाने के ढंग का ढाँचा सजा कर खड़ा कर दिया जाता है। मंच के एक कोने में दर्शकों को दिखाते हुए नगाड़ेवाले बैठते हैं। नगाड़े की ध्वनि विशेष ढंग की होती है। जो इन्हीं खेलों से संबंध रखती है। मालवा के माच में जिस प्रकार ढोलक का प्रभुत्व है उसी प्रकार नौटंकी में नगाड़ों का साम्राज्य है। नौटंकी या भगत का अभिनय देर रात्रि से आरम्भ हो कर प्रातःकाल तक चलता है। वही हाल माच का है। जहाँ कभी होड़ करने का प्रसंग आ जाये वहाँ समय का यह बन्धन भी अपना बाँध तोड़ कर आगे बढ़ सकता है।

हाथरसवाले नाथाराम का ऊपर जिक्र किया गया है। लोगों में यह व्यक्ति नत्था के नाम से प्रख्यात है। नत्था की रामायण नौटंकी की जानी पहचानी वस्तु है। कहते हैं, नत्था ने लगभग बीस नौटंकियाँ लिखी हैं। अन्य नौटंकियों के रचयिता फर्रुखाबाद के तिरमोहन, कानपुर के श्रीकृष्ण, राधेश्याम कथावाचक, तथा लम्बरदार हैं। नौटंकियों के अखाड़े में होड़ होती है, पर इनमें मौलिकता बहुत कम देखने में आती है। प्रायः सभी के विषय मिलते-जुलते हैं। वही कथानक और बहुत कुछ मिलते-जुलते संवाद। चीजों को तोड़-मरोड़कर अपनी बनाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। कतिपय कथानक उर्दू की कृपा से नौटंकियों में स्थान पा गये हैं। आज ऐसे कथानकों से हिन्दी भाषा-भाषी सभी जन परिचित हैं। शीरी-फरहाद, सुल्ताना डाकू, लैला-मजनू, इन्दर-सभा आदि ऐसे ही कथानक हैं। श्रृंगार प्रधान कथानकों में लालाख, प्रेमकुमारी, जवानी का नशा, आँख का जादू, त्रिया-वरित्र इत्यादि उल्लेखनीय हैं। कठपुतली के खेल का प्रसिद्ध 'अमरसिंह राठौर' वीर-रस का स्वांग है। नौटंकी में यह इतिहास से अधिक निकट आ गया है। संगीत 'अमरसिंह राठौर उर्फ आगरे की लड़ाई' के नाम से छपित नौटंकी बाजारों में मिल जाती है।

छपित पुस्तकों की प्रतियों में जो भाषा सामान्यतः उपलब्ध है वह रीतिकालीन प्रवृत्तियों से पोषित एवं उर्दू शायरी से अधिक प्रभावित है। प्रांतीय भाषाओं का प्रभाव अभिनय के अवसर पर इन रचनाओं में झलकता है। ब्रज की भगतों में ब्रज भाषा अथवा पंजाब में पंजाबी का प्रभाव स्वाभाविक है। अभिनय के समय लिखित पोथियाँ केवल सहायक भर होती हैं।

नौटंकी, स्वांग या भगत तीनों एक ही वस्तु है। कहीं स्वांग के नाम से नौटंकी विख्यात है, तो कहीं भगत के नाम से। स्वांग की प्राचीनता में सन्देह नहीं, भगत मध्य-काल की वस्तु है और नौटंकी प्राचीन स्रोत में रीतिकालीन अथवा उसके थोड़े पहले की ऐहिक प्रवृत्तियों की मिली-जुली धारा है। अमीर खुसरो की भाषा का प्रभाव नौटंकी में लक्षणीय है, जो निस्संदेह मुसलमानी प्रश्रय का प्रतिफल प्रतीत होता है।



भवाई

गुजराती और राजस्थानी रंगमंच का पूर्वतिहास 'भवाई' नाटकों से संबंधित है। आज भी गुजरात और राजस्थान के गाँवों में भवाई मण्डलियाँ घूम कर खेल किया करती हैं। गुजरात में 'भवाई' बड़ा भद्दा और साधारण कोटि का होता है। इसका अभिनय करने के लिये किसी भी ऊँची भूमि मंदिर अथवा घर के चबूतरे पर लोक-मंच अस्थाई रूप से बना लिया जाता है। भवाई नाटक न तो संस्कृत नाटकों की भाँति अंकबद्ध होते हैं और न उनमें व्यवस्थित कथा का तारतम्य ही पाया जाता है। भवाई की प्रसिद्धि तो उसकी वेश-भूषा, दैनिक जीवन से संबंधित घटनाओं का अभिनय और धार्मिक कथाओं के विश्वास पर आधारित है। दो-तीन व्यक्ति कपड़ा तान कर खड़े हो जाते हैं, तथा तबले, नगारे और तेज आवाज़ वाले वाद्यों के साथ कभी सम्मिलित स्वर में या कभी स्वतंत्र रूप से अभिनेता गा कर अभिनय करते हैं। प्रारम्भ में गणपति की वंदना भवाई का अनिवार्य अंग है। स्वयं गणपति मंच पर आते हैं, तत्पश्चात् अभिनय आरम्भ होता है। स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। साधारण जनता के लिये भवाई प्रबल मनोरंजन के माध्यम रहे हैं। उनमें अश्लीलता के प्रवेश के कारण जो भद्दापन एवं फूहड़ किस्म की चेष्टाओं का क्रमशः समावेश जब से होने लगा, तभी से गुजरात के कतिपय विद्वानों द्वारा इसका विरोध आरम्भ हुआ। अतः भवाई प्रथा का धीरे-धीरे कम प्रभाव न केवल आधुनिक रंगमंच के कारण हुआ, वरन् शिक्षितों द्वारा उसकी अश्लीलता के विरोध में जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ वह भी एक कारण था। गुजरात में रणछोड़ भाई उदयराम ने भवाई की अश्लीलता नष्ट करने के लिये अनेक नये नाटक लिखे। किन्तु ऊपरी तौर पर भवाई का यह विरोध जन को उसकी परम्परा से एकदम अलग न कर सका। भवाई करनेवाले तरगाणा जाति के लोगों की एक बड़ी संख्या यह काम फिर से करती रही। राजस्थान के भवाईयों के प्रति ऐसा कोई विरोध नहीं हुआ। भवाई जाति में अभिनय करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं क्षमता रही है। लोक प्रचलित परम्परा का इस प्रकार सहज ही लोप होना संभव नहीं था। उसके अभिनय की परम्परात्मक प्रणाली और हास्य के लिये स्थानीय विशेषताओं को ले कर विदूषक का अभिनय लोगों के मन में गहराई तक बैठे हुए थे। गुजराती में संस्कृत नाटकों का यह विदूषक 'रंगलों' कहलाता है। भवाई की अधिकांश सफलता इस 'रंगलों' पर निर्भर रहती है। नये मंच पर यही रंगलों लोक-नाट्यों के माध्यम से अवतरित हुआ। गुजरात में रणछोड़ भाई उदयराम के अतिशक्ति दलपतराम, नर्मदाशंकर, मणिभाई, नभुभाई, विभाकर आदि ने मंच के लिये नवीन नाटक खेले, पर जनभूमि में विकृति आते देख उन्हें भी क्रमशः मंच से अपने संबंध शिथिल करना पड़े। एक शताब्दी पूर्व बम्बई में 'शंकर सेठ' का नाट्य-गृह आरम्भ हुआ था। उसकी पारसी-महाराष्ट्रीय अभिनय पद्धति से तंग आ कर अनेक नाटककारों ने लेखनी उठाई। रणछोड़

भाई ने सन् १८६१ के पश्चात् 'जयकुमारी-विजय', 'हरिश्चन्द्र', 'ललिता दुःख-दर्शन' आदि लिख कर भवाई के प्रभाव को कम करना चाहा। उनका यह प्रयास बौतरफा था। एक ओर पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के आंग्ल प्रभाव को मिटाना तथा दूसरी ओर भवाई देखनेवाले लोगों की रुचि को परिष्कृत करना। इसी समय कुछ और गुजराती नाटक कम्पनियाँ स्थापित हुई। सती द्रौपदी, मीराबाई, नृसिंह मेहता जैसी कथाओं का बोल-बाला था। इन नाटकों के प्रति लोकप्रियता कम न थी। इस प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का भी प्रवेश हुआ। एक ओर नगरों में गुजराती नाटकों का मंच विकसित हो रहा था तो दूसरी ओर भवाई की परम्परा अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी। साहित्यकारों के जन-सम्पर्क से अलग होकर काम करने की वृत्ति के कारण जो कुछ रणछोड़ भाई का स्वप्न था, वह पूरा नहीं सका।

कतिपय विशेषताओं के कारण 'भवाई' एक लोक-नृत्य का भी प्रकार माना जाता है। राजस्थान-मालवा में गुजरात की ओर से जो जन-प्रवाह बहा उसने भवाई का प्रचार दूर-दूर तक किया। भारतीय लोक-नृत्यों के उद्धारक देवीलाल सांभर ने भवाई को राजस्थान और मालवा की उत्पत्ति बताया है। उन्होंने इस संबंध में एक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है, "आज से ४०० वर्ष पूर्व जब राजस्थान के गाँवों में भी सांप्रदायिक और जातीय भेदभाव के अंकुर उत्पन्न हुए, ऊँचीनीच के भेदभाव बढ़े, पारिवारिक जीवन में विश्रुंखलता उत्पन्न हुई, कला विलास और व्यभिचार का साधन समझी गई, ऊँची जाति के लोगों ने उसे तिरस्कार के योग्य समझ अपने से दूर ही रखा तो यह भावना गाँवों में सबसे अधिक राजपूतों और जाटों में देखी गई। यह लड़ाकू जाति थी। नृत्य और गान को ये लोग शौर्य और वीरता का शत्रु समझते थे। खेती करना और पशु पालना इनका मुख्य व्यवसाय था। इन्हीं जाटों में नागाजी नाम का एक जाट था जो केकड़ी नामक स्थान में रहता था। इसे बचपन से ही नाचने, गाने का शौक था। यह बात जाटों को अच्छी नहीं लगी, उन्होंने उसे नककाड़ा, भाला, भूंगल और जाजम देकर अपनी जाति से निकाल दिया और कहा कि तू आज से ही हमारी जाति का भाड़, भवाई है और तुझे समस्त जाटों के मनोरंजन का अधिकार दिया जाता है। तब से नागाजी जाट और उसके परिवार वाले भवाई कहलाने लगे।"

इस पद्धति का अनुसरण अनेक जातियों ने किया। नाच-गाने को अपने गौरव के विरुद्ध समझनेवाली ठसक सामन्ती प्रभावों से युक्त थी। अतः भवाई जाति जो कि इस प्रकार अनेक जातियों से तिरस्कृत हो नाचने-गाने के लिये निकाले गये लोगों का संगठन थी, सामन्ती व्यवस्था से प्रादुर्भूत वर्ग-भेद का परिणाम कही जा सकती है। निम्नवर्ग के लोगों ने भी अपने भवाई बनाए। जाट, धाकड़, डांगी, भील, गूजर, लोदा, कुमावत आदि जातियों के भवाई राजस्थान-मालवा में पाये जाते हैं। गुजरात के (भवाई) नाट्य इन भवाईयों के नृत्य-नाट्यों से काफी मिलते-जुलते हैं। ✓

भवाई नृत्य, नाट्यों के कुछ नाम हैं—'बोरा बोरी' (बनियों का खेल), 'सूरदास' (अन्धे और कुचरित्र साधू का खेल), 'डोकरी' (जिसमें वृद्धा अपनी लड़की का विवाह एक वृद्ध से करती है—समाज की कुप्रथा पर हास्यात्मक व्यंग), 'लाड़ा-लाड़ी' (दो पत्नियों वाले अर्धेड की दुर्दशा—बहु-विवाह का कुपरिणाम), 'शंकरिया' (कालबेलिये



'भवाई' लोक-नृत्य

युवक का जोगन अथवा संपेरी से प्रेम का अभिनय), 'बीकाजी', 'बाधाजी', 'ढोलामारू', आदि। गुजरात में यद्यपि इसी नाम के खेल नहीं मिलते पर सामाजिक जीवन से संबंधित कथानकों में काफी साम्य है।

इन समस्त नृत्य-नाटकों में अभिनय के साथ लोकगीतों का गायन भी होता है। सारंगी, नफीरी, नगारे, ढोल और मजीरों का प्रयोग वाद्यकार करते हैं।

भवाई का किसी समय पर्याप्त प्रचार था। जनसाधारण में से लोक-रंजन के हेतु परिहास की सामग्री खोज लाना भवाई-अभिनेताओं के लिये सहज बात रही है। बालक को सुलाने के लिये प्रयुक्त 'थे, थे, थे, थे, थे ताता, थे,' शब्द भवाई में नृत्य के बोल का काम करते हैं। इसी से गार्हस्थ्य जीवन से लिया गया परिहास-प्रकरण का ज्ञान हो जाता है।

गीतों में भवाई की कमी नहीं। प्रेम संबंधी एक दोहा है:

‘सामेरी सायर उल्टधा ने रतन तणांता जाय,
कर महिणेर भरे मूवड़ी तेना शगले हाथ भराय।’

साहित्य में भवाई को विशेष महत्व नहीं मिला है। गम्भीरतापूर्वक इस पर विचार किया जाये तो ऐसी कितनी ही सामग्री भवाई के अन्तर्गत मिलेगी जिसे साहित्य की दृष्टि से गौरव प्राप्त हो सकता है। गोबर्धनराम ने 'सरस्वतीचंद भाग १' में बुद्धिधन के कुटुम्ब की स्त्रियों का वर्णन करते हुए लिखा है:

‘नूहानी शो नार ने नाकरे मोती।’

भवाई में यह पंक्ति इस प्रकार प्रचलित है:—

‘नूहानी शी नार ने नाके मोती
पियु परवेश ने वाटड़ी जेती
उड़वती काग ने गणती रे दहाड़ा
ये नीशानीए नागर बाड़ा।’

इन्हीं पंक्तियों की भाँति दूसरी पंक्तियाँ देखिये:—

‘छाजनी छापरी छाजले छाई
खमेधोती ते आंगणे सुकाई
आंगणे गाय मा पेटे खाड़ा
ये नीशानीए ब्राह्मण बाड़ा।’

नाटकों में नवीन प्राणों के संचारार्थ भवाई में लोकोन्मुखी अनेक विशेषताएँ हैं। उसमें नृत्य-नाटिका के गुण तथा नृत्यों के साथ गीतों के प्रयोग की प्रवृत्ति का पूरा समावेश है। नृत्य-प्रसंग में अभिनेता नृत्य करते हुए ही लोगों के सामने आते हैं। किस प्रकार के नृत्यों का प्रचार पहले था यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह शोध करने का विषय है। गुजरात में तबले के भिन्न-भिन्न बोल नृत्य के विभिन्न प्रकारों की सम्भावना व्यक्त करते हैं। भवाई के नृत्य अवश्य ही खास ढंग के होंगे। कुछ देशी ढाल के छंद, कुंडलियाँ तथा रेख्ता का प्रयोग कभी-कभी होता पाया जाता है। कुछ विशिष्ट छंद तो नृत्य के 'बोल' बोल कर कहे जाते हैं। अतएव भवाई में संगीत का प्राधान्य काव्य के साथ रहा है। झूला झूलने के प्रसंग में दीन-दरवेश की कई कुंडलियाँ भवाई में कही जाती हैं।

‘महुड़ी तेरी छाया में बंठे बीन फकीर
 कहाँ सोइये बाग में कहाँ सरोवर तीर
 कहाँ सरोवर तीर अनोपम तेरी छाया
 बंठ बीन फकीर दो घड़ी बीन गुमाया
 कहत बीन दरवेश जुगो जुग जीवो खड़ी
 बंठे फकीर छाया में तेरे महुड़ी।’

स्त्री पात्रों द्वारा लम्बे और विलम्बित लय में गीत कहे जाते हैं। उनमें नृत्य के अन्तर्गत ताल का प्राधान्य होता है। ऊँची आवाज में गाने की प्रथा है। गीतों की शब्द-रचना नृत्यों के अनुरूप ही प्रतीत होती है।

राजस्थान-मालवा की ओर भवाई के गीतों में हास्य के साथ प्रेम के उत्कृष्ट भावों का निर्वाह पाया जाता है। बाघाजी के खेल में भारमली कहती है:—

‘नेणारा सरवर कल्लू प्रीतरी बांधू पाल।

भारमली जल की मँछिया, बाधो नाखे जाल॥’

श्री रामनारायण पाठक ने ‘भवाई अने तरुतो’ नामक अपने लेख में इस पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए लिखा है:—

“.....तेमा पण नृत्यनो ताल प्रधान हतो अने गीत नी छेवटनी पंक्तियों प्रबल ताल थी द्रुत लयमा नृत्य साथे गवाती अबो गीतों हूं प्रयोग थी बतावी शकुं अमे नथी। छता एक दृष्टांत आपु छुं, जेने शब्द रचना ज अनी नृत्योचितता सूचवे छे। के साराना वेष मां झोला नामनां गाणा आवे छे तेमांथी एक हुं लऊ छुं:—

‘आछो झोलो लाग्यो रे राज ने आछो झोलो रे
 नीदरी झोलो लाग्यो रे राजन नीदरी झोलो रे
 सोले बरसती सुन्दरी गोरी जल भरवाने जाय
 कांटो वाग्यो प्रेमनी अरे तो ऊभी ऊभी झोला खाय
 राज ने आछो झोलो रे’

इस गुजराती भवाई में स्तर की कभी अवश्य सिद्ध होती है जो राजस्थानी में नहीं है। कहीं-कहीं कवि के नाम की छाप लगाई जाती है। प्रायः प्रचलित रचनाओं से बिना नाम के ही कवि का ज्ञान हो जाता है। ‘रेख्ता’ में नृत्य के बोल जोड़ दिये जाते हैं और कभी-कभी रचयिता का नाम बाद में बोल कर दर्शकों को कवि के नाम से परिचित कराया जाता है।

भवाई का अध्ययन गुजराती नाटकों के पृष्ठ में अपना वैशिष्ट्य रखता है। किसी समय समस्त गुजरात में भवाई लोकप्रिय मनोरंजन का साधन था। यद्यपि एक ओर अन्य प्रकार का मनोरंजन भी गुजरात में प्रचलित है जिस पर मथुरा के रासों का प्रभाव स्पष्ट है। वैष्णवों के प्रभाव से ही उसमें राधा-कृष्ण की लीलाएँ और अम्बा माता की पूजा का प्रचलन हुआ।

१९वीं शताब्दी के पश्चात् नवीन नाटक जो मंच पर आये उनमें अधिकांश छपे नहीं। भवाई के भाग्य में भी लिपिबद्धता पहले से ही न थी। ऐसी स्थिति में यह सम्भव न हो सका कि भवाई का यथोचित विकास होकर गुजरात प्रान्त की नाट्य-परम्परा विभूषित हो।

बंगाल-बिहार

जात्रा (यात्रा), गम्भीरा और कीर्तनिया

बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिये भारतवर्ष एवं निकटस्थ देशों में कतिपय उत्सवों का आश्रय लिया था। चीनी यात्री फाहियान ने अपने यात्रा वर्णन में पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के कुछ ऐसे उत्सवों का विस्तृत वर्णन किया है। रथयात्रा का उत्सव ऐसी ही परम्परा रही है जिसका निर्वाह उन दिनों खोतन और पाटलिपुत्र में बड़ी धूम-धाम से किया जाता था। इसी भाँति जगन्नाथजी की रथयात्रा अथवा अन्य यात्राएँ कालान्तर में पूर्ण आडम्बर-युक्त होकर प्रचलित होती गईं। यहाँ जिस यात्रा का वर्णन किया जा रहा है, वह यद्यपि उक्त उत्सवों से भिन्न है, परन्तु जिसका सम्बन्ध बंगाल के संगीत, नृत्य और नाट्य परम्परा से प्रगाढ़तः सिद्ध है। यों नाट्य परम्परा से आबद्ध 'यात्रा' अथवा 'जात्रा' शैली धार्मिक यात्राओं से किन्हीं अंशों में जुड़ी हुई है।

जात्रा (यात्रा) का अर्थ है जुलूस या उत्सव। भवभूति कृत 'मालती माधव' में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बंगाल, उड़ीसा और मिथिला में यात्रा की परम्परा भिन्न-भिन्न नाट्यों-नृत्याभिनयों के रूप में प्रचलित हैं। भक्तगण अपने आराध्य की उपासना के हेतु प्रारम्भ में कीर्तन करते और नाचते-गाते किसी विशिष्ट स्थान तक पहुँचा करते थे। आज भी मन्दिर अथवा देवस्थानों तक भक्त-मण्डलियाँ अपने उपास्य की लीलाएँ करती हुई गाँवों या नगरों के मार्ग से जाया करती हैं। कदाचित् यात्रा अथवा 'जात्रा' का यही प्रारम्भिक स्वरूप हो। श्री सुकुमार सेन ने "बंगला साहित्येर कथा" में यात्रा शब्द का अर्थ देवपूजा के निमित्त आयोजित मेला, जुलूस और नाट्य-गीत बताया है।^१ आरंभिक युग में नाटक और धर्म का परस्पर सम्बन्ध रहा है। कृष्ण की लीलाओं के प्रदर्शन जनपदों के अपने लौकिक नाट्यों में सदा से प्रचलित रहे हैं। यात्रा शैली में ये विषय खूब खिले हैं। प्रान्तीय भाषाओं में गीत और संवादों के माध्यम से अभिनय को जो समरस प्रदान करने वाले तत्व प्राप्त हुए हैं, वे परम्परा की सृष्टि के करने लिये पर्याप्त थे। विद्वानों का तो विश्वास है कि बीच में संस्कृत-नाट्यों की परम्परा जहाँ टूटी है, वहाँ बंगाल की "जात्रा" शैली ने अपने उत्कृष्टस्वरूप को लोक प्रचलित बनाये रखकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।^२ डॉ० पी० हरविज्ञ के मत से वैदिक-काल के ऋतु-उत्सवों से सम्बन्धित नाटकों का स्वरूप यात्रा के अनुरूप था। यह तो असंगत सा लगता है कि वैदिक युग में यात्रा (जात्रा) का ही प्रचार था। यह कहना उपयुक्त होगा कि संभवतः नाटकों का लोक प्रचलित स्वरूप उन दिनों बना रहा होगा और उसी से हम आज की जात्रा का सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। डा०

१. पृष्ठ १४३ पर देखिये।

२. कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ४०।

कीथ के विचारों में यात्रा नाटकों में तत्कालीन लोक नाट्य की शैली जीवित है, किन्तु यह वह शैली नहीं है जिसका हम वैदिक नाटक से सम्बन्ध जोड़ें।^१

आगे चलकर प्रत्येक प्रान्त में लोकनाटकों की परम्पराओं का विकास हुआ। ये परम्पराएँ मूल स्वरूप में भले ही समान तत्वों की वाहक हों, पर स्थानीय रंगों और धारणाओं से उनमें पर्याप्त भेद लक्षित होते हैं। यात्रा के अतिरिक्त बंगाल में कविवान, कीर्तन, पांचाली और कथकता जैसी उपशैलियाँ प्रचलित रही हैं। नाटक की कोटि में यात्रा ही सर्वोपरि है और वर्तमान काल में साधारण जनता के मंच की शोभा है। वैसे पांचाली अथवा अन्य गीतों को यात्रा में सम्मिलित कर लिया जाता है।

१३वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी के अन्त तक बंगाल में साहित्य सृजन के प्रति शैथिल्य आ गया था। लोगों के मनोरंजन तब भी बन्द नहीं हुए। राजनैतिक दृष्टि से मध्ययुगीन अवस्था बहुत कुछ गतिरोधात्मक थी। फिर भी लोगों में रामायण और महाभारत के आख्यान, कृष्ण-लीला संबंधी गीत, मनसा, चंडी, वाशुली और शिव के गीत उन्मुक्त भाव से गाये जाते थे। बंगाल में तुर्कों के आधिपत्य के कारण नाटकों का विकास यकायक रुक गया था। यात्रा के रूप में धार्मिक और पौराणिक कथानक लोक मंच के विषय तक भी बने रहे। प्राचीन नाट्यों पर शैव मतावलम्बियों का प्रभाव था। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से सरस-संगीतमय पदावलियों में कृष्ण लीला संबंधी गीत-कथाएँ अभिनय के साथ प्रस्तुत की जानी आरम्भ की गई। इस तरह कृष्ण यात्रा का प्रादुर्भाव हुआ। इसके थोड़े ही पहले चंडीदास ने कृष्ण कीर्तन की रचना की थी। गुणराज खाँ ने भी 'श्री कृष्ण विजय' रचना लिखी थी। अतः कृष्ण की सगुण लीलाएँ भक्त कवि की तन्मयता से प्रसूत हो बंगाल, बिहार, उड़ीसा ही नहीं और भी दूर तक प्रसरित हुई। लोचनदास (सन् १५३३-१५८६) जगन्नाथ वल्लभ एवं जदुनाथदास जैसे कवियों ने प्रभु का अनुसरण किया। डा० सेन ने यात्रा के विषय में लिखा है कि यात्रा के अभिनय का सर्वप्रथम उल्लेख सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्राप्त होता है। उस समय चैतन्य महाप्रभु (१४८६-१५३३) का बंगाल पर पूरा प्रभाव था। कहते हैं चैतन्यदेव ने स्वयं अपने मौसा के घर में 'रुक्मिणी-हरण' का अभिनय किया था। यह अभिनय यात्रा की ही शैली में था। चैतन्य रुक्मिणी बने थे और उनके साथी गदाधर राधा।^२ वस्तुतः यात्रा के उद्धार और प्रचार का संपूर्ण श्रेय चैतन्य महाप्रभु को प्राप्त है। १६वीं शताब्दी के पश्चात् कृष्ण और राधा प्रायः यात्रा के विषय बने रहे। जयदेव, चंडीदास, विद्यापति एवं अन्य कवियों की रचनाएँ यात्रा की भूमिका में प्रश्रय पाने लगीं। वैष्णव धर्म को एक ओर यात्रा के द्वारा पर्याप्त विकसित होने का अवसर मिला तो दूसरी ओर यात्रा नाट्य ही कृष्ण लीला का पर्याय बन गया। चाहे कोई भी कथानक हो, परोक्ष-अपरोक्षतः वह कृष्ण लीला से ही संबंधित हो जाते थे। कहते हैं कि 'कालिया-दमन' सम्बोधन भी यात्रा का ही पर्यायवाची था। अतः चार सौ साल तक यात्रा की यह धारा अबाधगति से बंगाल की भूमि पर बहती रही। महाराष्ट्र तक इसका प्रभाव आगे चल कर प्रकट हुआ। 'दशावतार' और 'यज्ञगान' में यात्रा का स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण संभवतः इतिहास के उस प्रसंग से

१. वही, पृष्ठ १६।

२. देखिये, बंगला साहित्येर कथा, पृष्ठ १४०।



जात्रा (यात्रा) का एक मृदंग-वादक



कृष्णलीला पर आधारित एक मणिपुरी लोक-नृत्य

संबंधित है जबकि बंगाल के कुछ परिवार दक्षिण कोंकण में जाकर बसे थे । कोंकण में जो गौड़ सारस्वत हैं उनका आगमन बंगाल से ही हुआ था । (बंगाल को गौड़ प्रदेश कहते भी हैं) अतएव यात्रा का सुदूर प्रान्तों में प्रचार का कारण परिवारों का एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाकर वहाँ की सभ्यता और संस्कृति से घुल-मिल जाना है ।

उड़ीसा में 'पटुवा' जाति के लोग अपने इष्ट की आराधना में यात्रा आयोजित करते हैं । पटु का व्यवसाय ये ही लोग करते हैं । यद्यपि उड़ीसा में पटुओं का यह व्यवसाय नष्ट हो चुका है तथापि मूल में यह जाति चित्रकर्म किया करती थी । पटुआ संगीत पर लिखते हुए श्रीदत्त ने एक वृद्ध पटुए से सुनी हुई एक कहानी का उल्लेख किया है । उसके अनुसार पटुए विश्वकर्मा की संतान हैं । दुर्भाग्यवश आज उनकी अवनाति हो गई है, क्योंकि एक बार उनके किसी पूर्वज ने शिव की अनुमति के बिना उनका एक चित्र बनाया था । शिव ने क्रुद्ध होकर श्राप दिया । तभी से पटुए मुसलमानों की भाँति प्रार्थना करते हैं और हिन्दू देवताओं के चित्र बनाते हैं ।^१ इस कथा से निश्चय ही पटुआ शिल्पी जाति के सिद्ध होते हैं । उड़ीसा के पटुओं में लोक कथाएँ गानेवाले गायकों का बहुत प्रभाव है । इन्हीं लोगों द्वारा यात्राएँ आयोजित की जाती हैं । यात्रा में छः सात व्यक्ति होते हैं जिनमें गायक और वादक के अतिरिक्त रावतानी का वेष कोई पुरुष धारण करता है । वही यात्रा की नृत्य-नायिका होता है । पहले यात्रा का कर्म अव्यवस्थित हुआ करता था । उसमें चाहे जैसे नृत्य और अभिनय प्रचलित थे । १९ वीं शताब्दी के अन्त में कृष्णमल गोस्वामी के प्रयत्नों से यह परम्परा कदाचित् परिष्कृत हो सकी । डॉ० डे का कथन है कि प्रारम्भ में यात्रा का संगीत पक्ष ही उल्लेखनीय था । कथोपकथन साधारण और नाटकीय तत्वों में ग्रामीणता अधिक थी । गद्य के संवादों में गीतों का अनावश्यक पुट अखरता था, यहाँ तक कि पूरे संवाद भी गीतबद्ध हुआ करते थे । यही यात्रा (यात्रा) बंगाल के नाटकों की पूर्वजा है ।

यात्रा का अभिनय खोल और मृदग के साथ गायकों के सामूहिक गीत पर चलता है । समस्त गायक 'चोंगा' नामक स्वेत वस्त्र पहनकर मंच पर उतरते हैं । यह मंच खुली हुई उन्नत भूमि पर अथवा किसी मन्दिर के ऊँचे चबूतरे पर निर्मित होता है । पौराणिक नाटक में नांदीपाठ की भाँति यात्रा में 'गौर-चन्द्रिका' का गायन उसी प्रकार होता है जिस तरह उत्तर भारत के लोक नाट्यों में देवताओं की स्तुति और गुरु की वन्दना । 'गौर-चन्द्रिका' का विषय गौरांग प्रभु चैतन्य की वन्दना से सम्बन्धित होता है । इस परम्परा से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि चैतन्य ने यात्रा का वास्तव में उद्धार किया था । चैतन्य के पश्चात् यात्रा के ही प्रभाव से गोपालस्वामी कृत 'विदग्धमधुवा' एवं प्रेमदास कृत 'चैतन्य चन्द्रोदय कौमुदी' (१७१२) जैसे नाटकों को शक्ति मिली । छोटे-छोटे संगीत नाटकों में कृष्ण जीवन की झाँकियों एवं विविध प्रसंगों का विस्तार आगे चल कर होता गया ।

यात्रा के अभिनेता 'अधिकारी' के नेतृत्व में काम करते हैं । अधिकारी ही उनका निर्देशक और प्रधान नायक होता है । जिस तरह महाराष्ट्र के फड़ों में सरदार का अस्तित्व है उसी तरह यात्रा में अधिकारी का । जहाँ तक ज्ञात हो सका है, परमानन्द

नामक निर्देशक १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। यही पहला नाम मिला है। परमानन्द के बाद निर्देशक का क्रम बराबर उपलब्ध है। बहुत समय तक यात्रा में स्त्रियों का अभिनय पुरुषों द्वारा ही किया जाता रहा। जब स्त्रियों का प्रवेश और नई सम्यता के दांतों का विष समाज के शरीर में उतरने लगा तब शहरों में यात्रा प्रदर्शन की शैली विकृत हो गई। परम्परागत वाद्यों के स्थान पर तबला और हारमोनियम आ गये। कलकत्ते के शौकिया धनिकों ने भी एक यात्रा दल आरम्भ किया जिसे 'सखेर यात्रा' कहा जाता था। इसी में सब से पहले स्त्रियाँ मंच पर आईं। कृष्ण यात्रा की वैष्णव प्रधान सादगी इससे लुप्त हो गई। गीतों में शृंगार का प्रवेश और कथानकों में परिवर्तन हो गया। अनेक छोटे-मोटे दलों ने इसे व्यापारिक माध्यम मानकर थियेट्रों का विषय बनाया। परिणाम यह हुआ कि यात्रा धार्मिक बन्धों से ऊपर उठकर शहरों का 'आपेरा' बन गई। पहले गाँवों के जमींदार, रईस या अधिकारीगण यशोपार्जन की भावना से यात्रा मण्डलियों को निमंत्रित करते थे। सामाजिक स्थिति के हेर-फेर और आर्थिक कठिनाइयों ने इस व्यवस्था को तनिक ठेस पहुँचाई। शहरों में एक ओर यात्रा की कपालक्रिया हो गई, पर गाँवों में दूसरी ओर अशिक्षित जनता ने अपने अनपढ़ रूप में इस परम्परा को जीवित रखा। बीसवीं शताब्दी ने नवोन्मेष में यात्रा की शैली अपनाकर मुकुन्ददास ने समाज की बुराईयों एवं विदेशी शासन के विरुद्ध रचनाएँ लिखीं। गाँवों में उसके गीत बिजली की तरह फैल गये। अतः यात्रा की परम्परा आज के समय में भी गाँवों के मनोरंजन का माध्यम है। प्रतिवर्ष यात्रा मण्डलियाँ जुटती हैं। बंगाल में कतिपय नाटक मण्डलियाँ इस शैली को अपना कर सामान्य जनता तक नाटकों के नये प्रयोग प्रस्तुत करने में संलग्न हैं।

गम्भीरा

गम्भीरा लोक नाट्य का दूसरा रूप है जो बंगाल में प्रचलित है। यह शाक्त मतावलम्बियों का मंच है। शिव की लीलाएँ अभिनीत करने के निमित्त भक्तगण मुँह पर चेहरे लगाकर उतरते हैं। रात्रि को प्रायः लीलाएँ की जाती हैं। निर्देशक और अभिनेताओं को अपनी सुविधानुसार पर्दे के पीछे जाने-आने व दर्शकों के बीच बैठे हुए किसी भी व्यक्ति से बातचीत करने की स्वतंत्रता होती है। यहाँ पर्दा केवल दो बाँसों के सहारे साधारण कपड़े का बना लिया जाता है।

बंगाल में श्री जी० एस० दत्त ने जिन दिनों अपने वृत्तचारी आन्दोलन का प्रचार आरम्भ किया उन्हीं दिनों उसी से प्रभावित हो बंगाल के कतिपय प्राचीन नृत्य और नाट्यों की ओर शिक्षितों का ध्यान गया। 'कृत्य' और 'नृत्य' वृत्तचारी आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य थे। क्रमशः बंगाल के गाँवों की पुरानी लोक-कलाएँ सामने आने लगीं। गम्भीरा इसी तरह की भुलाई हुई सामग्री थी। चैत्र संक्रान्ति के अवसर पर मैमनसिंह जिले में गम्भीरा की भाँति ही 'नकाब-नृत्य' होते हैं। नकाबों का निर्माण गाँव के बंदाई और ग्रामीण रंगरे करते हैं। अभिनेता कमर में लाल वस्त्र तथा ऊपर का अंग खुला रख कर शिव का स्वरूप बनता है। यही संन्यासी या योगी का बाना है। गले में रुद्राक्ष की माला और माथे पर जटाओं का झब्बा पूर्ण शिव का भेष है।

शिव रूप अभिनेता जनता को प्रणाम कर ढाक की आवाज पर नृत्य आरम्भ करता है। गायकों का मंडल उसके पीछे गीत गाता है। नृत्य की गति आरम्भ में मन्द और अन्त में द्रुत हो जाती है। मुद्राओं का प्रदर्शन उसी क्रम से परिवर्तित होता है।

गम्भीरा का ठीक यही ढंग है। इतिहासज्ञ श्री दिनेशचन्द्र सेन का विश्वास है कि आधुनिक नाटकों के अनेक उपादानों से रहित ये ग्रामीण कोटि के नृत्य-नाट्य जन भावों को आन्दोलित करने में अधिक सक्षम हैं।

नकाब-नाट्य का एक और रूप भी है जिसे 'बूढ़ा-बूढ़ी' कहते हैं। यह एक प्रकार का हास्यात्मक अभिनय प्रधान नृत्य होता है। जिसमें वृद्ध-वृद्धा के रूप धारण कर दो अभिनेता सम्मिलित नृत्य करते हैं।

फरीदपुर के अवतार नृत्य चरक गम्भीरा उत्सव के अंग है जो बंगाली वर्ष के अन्त में अभिनीत किये जाते हैं।

शैवों ने शिव की आराधना में जिन नाट्य-तत्वों को अपनाया वे नृत्य-नाट्य प्रधान होकर भी यात्रा से अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं।

कीर्तनिया

कीर्तन यात्रा की भाँति ही एक दूसरी नाट्य सामग्री है। इनमें भी भक्त गण उद्दाम भावुकतावश हरीलीला करते हैं।

कीर्तनिया नाटक की मूल प्रेरणा इसी कीर्तन से है। जिस समय मिथिला और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु की वाणी कीर्तन द्वारा कृष्ण लीला को उत्कर्ष प्रदान कर रही थी, उन्हीं दिनों नेपाल के राजदरबारों की गीत-नाट्य परम्परा के साथ मिथिला की जनता में कीर्तनिया का अभ्युत्थान हुआ। नेपाल के मल्ल राजा नाटकों के प्रेमी थे। उन्होंने न केवल नाटक ही लिखवाये वरन् उनके अभिनय के लिये मर्चों का निर्माण भी करवाया। यद्यपि मंच खुले होते थे और अभिनय दिन में किया जाता था तो भी संगीत-काव्य-बद्ध सवादों का प्रभुत्व, पौराणिक कथानक और गद्य का प्रयोग उनमें कम ही होता था। नृत्य ही इन नाटकों का मुख्य आकर्षण रहा है। सन् १७६४ के पश्चात् यह परम्परा मल्लों के पतन के साथ नष्ट हो गई। राजाश्रय के समाप्त होने पर भी जनता में कीर्तनिया के ढंग की नाट्य प्रणाली प्रचलित थी।

कीर्तनिया धर्म प्रधान नाटक है। कृष्ण या शिव चरित्र इन नाटकों में अभिनीत किये जाते हैं। इसका अभिनय रात को होता है। प्रमुख अभिनेता नायक कहलाता है। पहले नारदीय पद्धति का संगीत इसमें प्रचलित रहा करता था। आज भी नारदी संगीत मालवा तक में मिलता है जो लोक-नाट्यों की ही सामग्री है।

कीर्तनिया पूर्ण रूप से मैथिली नाटक है। 'परवेस' (प्रवेश) गीत द्वारा मालवा के मांच की भाँति प्रारम्भ में समस्त पात्रों का परिचय कराया जाता है। डाक्टर उमेश मिश्र ने इन नाटकों को तीन कालों में विभक्त किया है। प्रथम काल १३५० से १७०० ई०, दूसरा १७०० से १९०० ई०, और तीसरा १९०० से १९२० ई० तक। प्रथम काल के मुख्य नाटककारों में उमापति सर्वाधिक लोकप्रिय नाटककार हुए। दूसरे में कान्हाराम, लोक कवि और नन्दीपति के नाटक तथा तीसरे काल के विश्वनाथ, बालाजी कन्दा झा आदि नाटककार उल्लेखनीय हैं।

अंकिया

यही कीर्तनिया १६वीं और १७ वीं शताब्दी के बीच आसाम में 'अंकिया' नाटक के रूप में प्रचलित हुआ। अंकिया में पद्य के स्थान पर गद्य का विकास हुआ। मनो-

विनोद के स्थान पर वैष्णव धर्म के प्रचार का उद्देश्य इसमें अधिक निहित था। अंकिया नाटक केवल एक अंक का नाटक होता है। यही कारण है कि उसे अंकिया कहा जाता है। शंकरदेव और गोपालदेव लोकप्रिय अंकिया नाटककार हो चुके हैं।

नाटकों की प्राचीन परम्परा अब भी लोगों में बची है। यह उल्लेखनीय है कि वैष्णव धर्म के प्रचार में ब्रज के पश्चात् बंगाल, मिथिला और निकटवर्ती क्षेत्रों में लोक-कला अधिक सहायक सिद्ध हुई है। विद्यापति और जयदेव के पदों ने लोक संगीत को शक्ति दी। धर्म ने अभिनय और नृत्य का विकास लोगों में स्वभावतः कर दिया। यात्रा और कीर्तनिया बहुत कुछ मिले-जुले ढंग के नाटक होते हैं। सुविधा के लिये हमने इसलिये बंगाल के लोक-नाटकों में स्थान दिया है।



महाराष्ट्र के लोक-नाट्य

तमाशा, ललित, गोंधल, बहुरूपिया, दशावतार

महाराष्ट्र में नाटक की परम्परा का आरम्भ कब हुआ यह कहना कठिन है। किन्तु लोक-नाटकों के अस्तित्व पर इस समस्या का कतई प्रभाव नहीं है। नाटकों के मात्र प्राप्त होने के प्रमाणों के बावजूद भी लोक-नाट्य जनता में अपना प्रभाव जमाये रहे। संत ज्ञानेश्वर के समय मराठी नाटकों के विकास की परम्परा तमाशा, गोंधल, ललित और स्वांग जैसे लोक-प्रचलित मनोरंजन के साधनों से सम्बद्ध हो जाती है। 'ज्ञानेश्वरी' में (सन् १२६०) नटनटी, कलसूत्री, सूत्रधार आदि के उल्लेख इस बात के द्योतक हैं कि महाराष्ट्र में लोक-रंजन के कतिपय साधन सदा से विद्यमान रहे हैं, जिन्हें उत्कृष्ट नाटकों की प्रेरणाभूमि मानकर मराठी लेखकों ने संस्कृत नाटक के ज्ञान से नाट्य रचनाएँ लिखने में सहायक समझा। विश्वनाथ पाण्डुरंग दांडेकर ने स्पष्ट शब्दों में मराठी नाटकों के मूल में ललित, तमाशा, गोंधल, प्रभृति का महत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि उक्त आधार दक्षिणवर्ती आन्ध्र और कर्नाटक के नाटकों के अधिक अनुरूप है तथापि महाराष्ट्र के अन्तर्गत उनमें कुछ ऐसे तात्त्विक परिवर्तन हो जाते हैं जिनमें उनकी स्वतंत्र सत्ता ही लक्षित होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मराठी के उदारचेता-आलोचक कर्नाटक एवं निकटवर्ती प्रान्त के इस प्रभाव को स्वीकार करते हैं, किन्तु कालान्तर में जो जातीय ढंग सहज विकसित हुआ वह द्रष्टव्य है।

निम्नलिखित पाँच नाट्य प्रकार मराठी रंगमंच के आधारस्रोत हैं :—

- (अ) तमाशा
- (आ) ललित
- (इ) गोंधल
- (ई) बहुरूपिया
- (उ) दशावतार

(अ) तमाशा

तमाशा महाराष्ट्र का शताब्दियों पुराना लोकनाट्य है। आज भी ग्रामों में मेले-ठेले अथवा उत्सवों के अवसर पर तमाशा आकर्षण का प्रधान विषय है। यह लोक-रंजन का महत्त्वपूर्ण साधन रहा है।

तमाशा करने वाली मंडली 'फड़' कहलाती है। फड़ का मुखिया जो दिग्दर्शक एवं संचालक दोनों ही होता है, महाराष्ट्र में सरदार कहलाता है। सरदार 'कड़िया' (झफ अथवा चंग बजाने वाला), ढोलकिया, 'सोंगड़िया' (स्वांग करने वाला—विदूषक),

१. साईलडियाने काई। प्रारंभ सूत्रधराते (अ० ६-३०) की साईलडियाची गली।
सूत्रतंतु (अ० १५-३६५)।

खूबसूरत, नचिया, नर्तकी अथवा नाचनेवाला एवं 'सुरतिया' (स्वर भरने वाला) को एकत्र कर अपना दल संगठित करता है। नर्तकी तमाशा का प्राण होती है। वह अपने संपूर्ण श्रृंगार के साथ जनसमूह के समक्ष प्रगट होती है। विशेष भाव-भंगिमाओं सहित वह परम्परागत धुनों में ऐहिक श्रृंगारपरक लावनियाँ अथवा वीरों के कीर्ति-काव्य पवाड़े या अन्य गीतों को गाती है। उसके साथ 'ढफ' और 'तुनतुन्या' जैसे ग्रामीण वाद्यों के बजाने वाले खास ढंग से अभिनय करते हैं और बीच-बीच में नर्तकी के गीतों को पंक्ति-श्लोककर उन्हें आवाज बदल-बदल दुहराते हैं। इस प्रवृत्ति का कुछ अंश 'सौंगड़िया' को भी प्राप्त है। वह भी बीच-बीच में व्यंग करता है अथवा विनोदी अभिप्रायों से हास्य का पुट देता जाता है। जहाँ फड़ में स्त्रियाँ नहीं होतीं वहाँ नर्तकी का कार्य पुरुष नर्तक को ही करना पड़ता है। गीतों के विषयानुकूल नर्तकी को क्षण-क्षण में कभी माननी, कभी पत्नी, कभी वियोगिनी और कभी प्रेयसी का अभिनय करना पड़ता है।

तमाशा प्रायः गणपति की स्तुति से आरम्भ होता है। यह स्तुति 'गण' कहलाती है। 'गण' के पश्चात् ही 'गवलन' नामक प्रचलित लोकगीत गाये जाते हैं। इसके साथ ही श्रृंगार प्रधान लावनियों से तमाशा उठाव पर आता है। इन तमाशों के अन्तर्गत जो कथाप्रधान अंश प्रस्तुत किये जाते हैं उन्हें 'वग' कहते हैं। 'वग' संवादात्मक होते हैं। पात्र वस्तु की रूपरेखा को ध्यान में रख कर ही बिना पूर्व तैयारी के संवाद बोलते हैं। यों तमाशा का सरदार आरम्भ में 'वग' की कथा-वस्तु निश्चित पात्रों को समझा देता है। अतएव संवाद कौशल के साथ ही पात्रों को अपनी तुरत-बुद्धि से वस्तु का निर्वाह तो करना ही पड़ता है, पर पूरे हाव-भाव के साथ चरित्र-निर्वाह भी आवश्यक हो जाता है। 'वग' की कथावस्तु ऐतिहासिक सामाजिक, लौकिक, धार्मिक एवं समया-नुकूल होती है।

तमाशा के अन्त में 'भेदिक' गीत गाये जाते हैं। गूढ़ विषयों की चर्चा अथवा दृष्टकूटों-सी प्रवृत्ति इन गीतों में लक्षित होती है। प्रायः प्रहेलिकाओं-सा गोपनीयतत्व प्रश्न रूप में ये गीत प्रस्तुत करते हैं। आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त लौकिक विषयों का समावेश इनमें अधिक होता है। यदि कहीं दो 'फड़ों' की प्रतिस्पर्धा हो गई तो भेदिक गीत बड़े काम के सिद्ध होते हैं। एक 'फड़' के प्रश्न को दूसरा 'फड़' चुनौती के रूप में स्वीकार करता है। प्रतिस्पर्धा में तुरन्त उत्तर अपेक्षित है। तमाशों में प्रतिस्पर्धा का ऐसा स्वरूप कभी-कभी कलंगी-तुरा' के गीतों को ही अपने जवाब-सवाल का आधार बना लेता है। तब प्रत्युन्नमति के लोक गायकों की बन पड़ती है और उन्हीं के बल पर 'फड़' विजयी होते हैं।

तमाशा साधारण मंच पर होता है। वास्तव में मामूली ऊँचाई उसके लिये पर्याप्त

१. 'कलंगी तुरा' प्रश्नोत्तर शैली की लोकगीत परम्परा है। महाराष्ट्र में इसका प्रचार रहा है। उत्तर भारत में भी कहीं-कहीं इस शैली के दल अभी मिलते हैं। कलंगी, अखाड़ा आदि शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है और 'तुरा' अखाड़ा 'शिव' को सर्वोपरि मानकर अपने पक्ष को 'कलंगी' पक्ष से बड़ा बताता है। 'कलंगी' बल का कहना है कि आदिशक्ति ही शिव की उत्पत्ति का कारण है। अतः शिव पुत्र है। किन्तु तुरा पक्ष शक्ति को शिव की पत्नी घोषित करता है। प्रश्नोत्तर का आधार यही दर्शन है।

है। बिना किसी लम्बी चौड़ी व्यवस्था के तमाशा आयोजित किया जाता है। आरम्भ में 'ढफ' और 'तुनतुन्या' के बजड़े तथा 'सुरतिये' मंच पर आकर श्रोताओं को मुजरा करते हैं। यहीं से तमाशा का संगीत आरम्भ होता है और फिर क्रमशः नर्तकी तथा फड़ के अन्य सदस्य प्रवेश करते हैं। नर्तकी के अतिरिक्त शेष व्यक्तियों की वेशभूषा साधारण होती है। नर्तकी पूरा ठाट बनाती है। सोलह हाथ की साड़ी पहनकर ऊपर से वह चाँदी का कमरबन्द बाँधती है। नाक में नथ, ठीक से गुंथी हुई वेणी तथा पैरों में धुंधरुओं के साथ वह अन्य आभूषण भी धारण करती है।

तमाशा के पात्र और श्रोताओं के बीच विशेष दूरी नहीं होती। नैकट्य की ऊष्मा दोनों पक्ष अनुभव करते हैं। अपेक्षित सामग्री श्रोताओं को तमाशाकारों से मिल जाती है। प्रायः छोटे-छोटे पद्य एवं पद्यात्मक संवादों द्वारा कई कथानक एक ही अवसर पर प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कभी-कभी तो सामयिक प्रसंगों की झाँकी स्थानीय विशेषताओं के साथ पूरे ठाट से श्रोताओं का मनोरंजन करती हैं।

उत्पत्ति का निर्णय

'तमाशा' फारसी शब्द है। मराठी में यह शब्द एक विशिष्ट प्रकार के मनोरंजन के अर्थ में प्रचलित है। महाराष्ट्र के लोक गायक रामजोशी (सन् १७६२-१८१२) का नाम इसी नाट्य के साथ सम्बद्ध है। क्योंकि रामजोशी के काव्य ने ही उसे ऊँचा उठाकर महाराष्ट्र में प्रतिष्ठा प्रदान की। मराठी में 'शाहिरी' वाङ्मय का सम्बन्ध अधिकांश में इसी लोकनाट्य से है। प्राचीन काल में कारोमण्डल किनारे पर अरब व्यापारियों का बहुत आवागमन था। उन्होंने भारतीयों के खेल अवश्य देखे होंगे और बहुत सम्भव है उन्होंने पहली बार इन खेलों को 'तमाशा' कहना शुरू किया हो। यद्यपि भारतीयों को यह शब्द मालूम था, तो भी वे स्वयं इस शब्द का उपयोग नहीं करते थे। मेलों और त्योहारों के अवसर पर जो लोकनाट्य खेला जाता था उसे पुराने कागज-पत्रों में 'गम्मत' कहा गया है। इस 'गम्मत' का बड़ा आदर था और गाँव-गाँव में पाटील या कुलकर्णी (पटवारी) के पास इस गम्मत के लिये काफी रकम अलग रखी जाती थी। गाँव के चमार, कुम्हार, धोबी आदि बारह आदमियों का जत्था विविध अवसरों पर 'गम्मत' का खेल करता था। कालान्तर में 'गम्मत' के बदले खेल-तमाशा शब्द रूढ़ हुआ और कम-से-कम १२ वीं शताब्दी (ज्ञानेश्वर के काल) से वह प्रचलित है। ग्यारहवीं शताब्दी की 'महिकावती की तवारिख' में शायरों का स्पष्ट उल्लेख है, और 'तमाशा' के गीतकारों को बाद में जो 'शाहिर' नाम प्राप्त हुआ वह 'शायर' शब्द का ही अपभ्रंश है।^१ कबीर ने भी स्वांग और तमाशा का उल्लेख एक स्थान पर किया है—

कथा होय तहं श्रोता सोचे बक्ता मूँड पचाया रे।

होय जहाँ कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे ॥

मराठी के विद्वान गणेश रंगनाथ दंडवते के मत से तमाशा कन्नड़ के लोकनाट्य का एक रूप है। क्योंकि कन्नड़ का एक तमाशा महाराष्ट्र के तमाशा से बहुत मिलता है। कन्नड़ संस्कृति की प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए यह संभावना

ग्राह्य हो सकती है।^१ 'तमाशा' के पहले महाराष्ट्र में लोकनाट्य का स्वरूप क्या था, यह भी प्रश्न सामने है। गणेश रंगनाथ दंडवते के अनुसार यह परम्परा 'गोंधल' नामक धर्मप्रणीत नाट्य से विकसित हुई प्रतीत होती है।^२ 'शाहिर' कवियों ने इसे पुष्ट किया है। यदि इसे कन्नड़ नाट्य का विकृत रूप भी स्वीकार किया जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र ने इस पर अपना ऐसा गहरा रंग चढ़ाया है कि उसे एक स्वतंत्र लोकनाट्य ही कहा जा सकता है।

अन्ततः यह स्पष्ट है कि 'तमाशा' की परम्परा १६ वीं शताब्दी के पूर्व से प्रचलित है। मुसलमानों के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में अपनी ग्रामीण नाट्य परम्पराएँ रही हैं। इन्हीं परम्पराओं पर आगे चल कर बाह्य प्रभाव लक्षित हुए; किन्तु ये सभी प्रभाव महाराष्ट्र की जातीय परम्पराओं में इस तरह घुल-मिल गये कि उन्हें अलग नहीं कहा जा सकता।

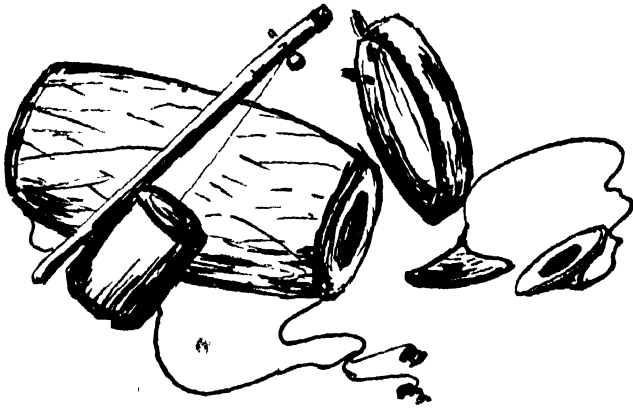
उत्कर्ष

पेशवाओं के काल (१८ वीं शताब्दी) में 'तमाशा' अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। प्रधानतः सवाई माधवराव और बाजीराव (द्वितीय) के समय इसे खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मराठों के राज्य ज्यों-ज्यों दृढ़ होते गये, ऐश्वर्य और विलासिता के कारण मनोरंजन के विभिन्न साधनों को प्रश्रय मिलता गया। मराठों की सेनाओं के साथ गायिकाओं के दल जाया करते थे। एक और तलवार की तेजी थी और दूसरी ओर ऐहिक शृंगार की सामग्री। लावनी और ह्याल छन्दों में तमाशा खिलता गया। उत्तर भारत में मराठों का ज्यों-ज्यों संपर्क दृढ़ हुआ 'तमाशा' अपने रूढ़ अर्थ में अधिक प्रसिद्ध होता गया। रामजोशी, अनंदफंदी, हीनाजी, बालाजी, सगनमऊ प्रभाकर, परशुराम आदि लावनीकार शाहिर कवियों की शृंगारी रचनाओं से तमाशा पुष्ट हुआ और अमीर-गरीब सभी का प्रिय मनोरंजन हो गया। ये सभी कवि १८वीं और १९वीं शताब्दी के मध्य हुए। प्रायः प्रत्येक शाहिर कवि के पीछे स्वतंत्र 'फड़' (दल) हुआ करता था। सभी फड़ अपने-अपने शाहिर की रचनाएँ गाते थे। लावनी छंद की प्रसिद्धि का कारण फड़ों की परम्परा का होना है। ये 'फड़' निमंत्रण पर तमाशों का आयोजन करते और सर्वसाधारण के साथ-साथ सामंतों और श्रीमानों का मनोरंजन करते थे। १९वीं शताब्दी के पूर्व मराठों का खूब उत्कर्ष हुआ। सामाजिक जीवन के शृंगारपरक एवं हृदयस्पर्शी प्रसंग लावनियों के विषय बने। मुहिम पर जाने वाले सैनिकों की प्रियाओं के झुरने, विरहावस्था में अपने पिता के घर तड़पने और पुनर्मिलन की प्रतीक्षा में अपने हृदय को सम्हाले रखने के चित्र तमाशा में प्रयुक्त होनेवाली लावनियों में उभरे। सामान्य जीवन की सरस व्यञ्जनाएँ तमाशा के साहित्य में लोक-साहित्य सी अछूती और नैकट्य की ऊष्मा से भासित हुईं।

बताया जाता है कि लावनी की उत्पत्ति केवल तमाशा के लिये हुई। श्री सरवटे ने लिखा है—“मराठी का शाहीर शब्द मूलतः अरबी के 'शायर' जिसका अर्थ कवि है, को मराठी पहनावा पहना कर उपलब्ध किया गया है। उसी प्रकार शाहीर की

१. महाराष्ट्र नाट्यकला व नाट्य वाङ्मय, पृ० १५।

२. वही।



‘तमाशा के वाद्य’



‘तमाशा’ पूर्ण होने पर आमदनी का बँटवारा

की 'लावनी' मराठी कल्पनाओं, संस्कृत की उपमाओं एवं मधुरवृत्त के संयोग से सृजित हुई है।^१ लोक-कवियों की यह परम्परा ऐहिक शृंगार में डूबी हुई थी। लावनी के साथ 'पवाड़ा' छंद का प्रचार हुआ। दोनों छंदों की विषय-वस्तु ठीक एक-दूसरे के विपरीत है तथापि तमाशा में लावनी ही अधिक स्थान पाती रही। प्रभाकर की एक लावनी में नारी का शृंगारपरक रूप देखिये—'लांब लचक वेणी, विगुन त्रिवेणी, घरघेणी अवतरली। वुचड्याचा आधी झोंक, त्यामध्ये ठेवी कोंक नोक, झोंक भर पुरली। सुकुमार नार, फारगुले अनार, शाल दुशाला पांधरली। राखडी केतक कुहरी, बोर नक्शीदार लहरी, केवड्याची घडण शहरी, मुंद चन्द्रकारे गहरी, देनी चन्द्र सूर्य बहारी, सारी जान केवल लाहरी। अवलुन धरी निरी, तसु तसुवर चिरी, खरी खुरी परी नटली। अशी असीन करि कोकिल किजबिज, आकसची बिज तुटली।'^२

ऐसी लावनियाँ अपनी पूरी सचाई के साथ उन भावों को लिये हुए हैं जो मानव की मूल प्रवृत्तियों को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखते हैं। 'शाहिरी' साहित्य में ऐसी अनेक लावनियाँ तमाशा की बेजोड़ सम्पत्ति हैं। सामान्य जीवन के विषय, लोगों के मनोभावों को गहराई से छूते हुए इनमें खिले हैं। लोक-जीवन के परम्परागत विश्वास, प्रणय-चेष्टाएँ, नारी के शृंगारपरक चित्र, नायकों की सहजजन्य मस्ती और तत्कालीन समाज की खूबी तमाशा नाट्य की प्रचलित रचनाओं में उपलब्ध हैं। आगे चल कर महाराष्ट्र के घर-घर में मतवाले शाहिरों की लावनाइयाँ गूँजने लगीं और मादक धुनों के माध्यम से तमाशाकारों ने उनमें ऐसा प्रभाव पैदा कर दिया जो आज तक सजीव भाषित होता है।

इन दिनों तमाशा न केवल महाराष्ट्र के गाँवों की वस्तु है, बल्कि नगरों के थियेट्रों तक में आधुनिक मंच की सुविधाओं को पा कर सर्वसाधारण का हृदयहारी मनोरंजन बन गया है। बाजीराव पेशवा के कारण उत्तर-भारत में भी महाराष्ट्र के लावनीकारों के स्वर गूँजे। प्रभाकर और पट्टे बाबूराव ने तो हिन्दी में भी कुछ लावनियाँ रचीं। हिन्दी में प्रचलित लावनी छंद के पृष्ठ में महाराष्ट्र के इन शाहिरों का बड़ा हाथ है। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में तमाशा की लावनियाँ अति शृंगारिक हो चलीं। उनमें अश्लीलता का पुट आ गया। परिणामतः मध्य-वर्गीय समाज का एक बड़ा भाग उसके प्रति अपनी दिलचस्पी खो बैठा। उसे निम्न-श्रेणी का मनोरंजन समझा जाने लगा। सद्गृहस्थ उसे अपमानजनक समझने लगे। यद्यपि अंग्रेजों के काल में तिलक एवं महात्मा फुले जैसे व्यक्तियों ने लोक-नाट्य के इस प्रकार को सामाजिक एवं राजनैतिक प्रचार का साधन बनाया था। ४२ के आन्दोलन में भी सका उपयोग हुआ। राष्ट्रसेवादल तथा साम्यवादियों के सांस्कृतिक

१. मराठी साहित्य समालोचना, पृ० २०।

२. लम्बी लचकदार त्रिवेणी गूँथे हुए स्वामिनी प्रिया अवतरित हुई। बालों का शोभाशाली जूड़ा जिसमें कोकणों लगा हुआ है, पूर्णतः झुका जा रहा है। गुले अनार-सी, सुकुमार नार शाल दुशाला धारण किये हैं, राखड़ी, मुंदरी तथा चन्द्र सूर्य की बहार उस पर शोभा दे रहे थे। अपनी साड़ी को ऊँचा उठाये जिसमें स्थान-स्थान पर पट्टे लगे हैं, यथार्थतः परी की भाँति वह सजी हुई हैं। ऐसी सुन्दर होकर भी वह कोकिला की तरह कूजन करती है। वह मानों आकाश से टूटी हुई बिजली है।

मंडलों ने तमाशों के द्वारा जन-जीवन के विचारों में परिवर्तन करने का भरसक प्रयत्न किया। तमाशा पर अश्लीलता का आरोप अब धीरे-धीरे कम होने लगा है। कुछ काल पहले 'महाराष्ट्र तमाशा परिषद' की स्थापना हुई है। उसमें तमाशा को परिष्कृत करने के लिये विचार किया गया। निश्चय ही मराठी का यह लोक-नाट्य पुनः अपना महत्व पा रहा है।

(आ) ललित

ललित मध्ययुगीन धार्मिक मंच है। ललित की उत्पत्ति के विषय में श्री रंगनाथ दंडवते लिखते हैं कि १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में बम्बई निवासी दादापंत नामक मराठे ने ललित का अभिनय करना आरम्भ किया। दादापंत ने पूना के प्रख्यात सावजी मल्लपा, बड़ौदा के बाधोजी बुवा और बम्बई के पाटली बुवा को अपने-अपने ललितदल संगठित करने की प्रेरणा दी। इतना ही नहीं, तीनों व्यक्ति दादापंत के पास बहुत दिनों रहे और उन्होंने ललित का यथोचित अभिनय सीखा है। इससे ज्ञात होता है कि ललित बहुत पूर्व की वस्तु है। संत तुकाराम के एक अभंग में ललित का उल्लेख इस प्रकार आया है—

“गलित झाली काया ।

हेंचि ललित पंडरिराया ॥”

शास्त्रीय कोष (मराठी) में ललित का अर्थ—“नवरात्रादि सम्बन्धी कीर्तन विशिष्ट जे उत्साह त्याचे अंतिम दिवशीं रात्रों उत्साह देवता सिंहासनारूढ झाली असें कल्पून, वासुदेव, दंडीगाण । ईश्वर भक्तांची सोगे आणून त्यासोंगांनी स्व० सम्प्रदायानुरूप देवापाशीं प्रसाद मांगावा आणि तो सर्व सभासदास वाटावा असा जो हरिदासजन कीर्तन-विशिष्ट समारंभ करितात ते”—दिया हुआ है। तात्पर्य यह है कि ललित नवरात्रि सम्बन्धी विशिष्ट कीर्तन है जिसमें अंतिम दिन उत्साह देवता सिंहासन विराजे यह कल्पना कर, ईश्वर भक्तों आदि के स्वांग आदि लिये जाते हैं तथा देवता से प्रसाद प्राप्त करने का अभिनय कर उसी प्रसाद को दर्शकों में वितरित किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ललित में कीर्तन की मात्रा क्रमशः घटती गई और कालान्तर में स्वांग सम्बन्धी विशेषताएँ ही नाटकीय रूप में प्रचारित हो गईं। इस प्रकार कीर्तन का सम्बन्ध ललित से छूट गया और लोग ललिताभिनय को ही मनो-जन का स्वतन्त्र विषय समझने लगे।

मराठी के विद्वानों का स्पष्ट मत है कि ललित ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक

१. गणेश रंगनाथ दंडवते ने एक सोलापुर निवासी नाना नामक 'नाच्या' (मुख्य पात्र) की एक कहानी अपनी पुस्तक में उद्धृत की है। नाना बड़े बाप का पुत्र था। तमाशाकारों की सोहबत में पड़कर वह नर्तक हो गया। एक बार उसके पिता ने तमाशा देखा। नाना (नाच्या) की कला पर मोहित होकर उन्होंने एक शाल उसे भेंट की। वह यह जान भी न सके कि अपने पुत्र को ही उन्होंने पुरस्कार दिया है। घर पर आकर देखा तो वही शाल ओढ़कर उनका पुत्र सो रहा है। वास्तविक स्थिति ज्ञात होने पर उन्होंने विषपान कर लिया।

२. बेलिये महाराष्ट्र नाट्य-कला व नाट्य वाङ्मय, पृष्ठ ४-५।

नाटकों को जन्म दिया, क्योंकि अपने उत्तर मध्यकालीन युग में ललित ही ऐसा प्रदर्शन था जिसमें पौराणिक एवं लोक प्रचलित अथवा ऐतिहासिक धर्मोन्मुखी कथाएँ नाटक का आधार बन सकीं। तंजोर के नाटकों का प्रभाव ललित पर बताया जाता है, क्योंकि नवरात्रि के पश्चात् जो लोक-नाट्य तंजोर में किये जाते हैं, वे प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। नांदी और गणपती का प्रवेश अनिवार्य है। हावभावों के अतिरिक्त संवादों का माध्यम कथानक को आगे बढ़ाता है। ललित में पद्य का बाहुल्य होता है, पर गद्य का प्रयोग भी कम नहीं होता। बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक की 'ललित संग्रह' नामक एक पुस्तक उपलब्ध है। उसमें ललित स्वांगों के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। श्री विनयमोहन शर्मा ने उन उद्धरणों को पढ़ कर इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया है कि महाराष्ट्र में हिन्दी नाटकों के विकास के पूर्व ही हिन्दी गद्य का गहरा प्रभाव इन ललितों पर पड़ चुका था। उद्धरणों से सिद्ध होता है कि दो-तीन शताब्दी पूर्व दक्षिणी हिन्दी शाखा ने उत्तर की ऐसी पर्याप्त नाटक सम्बन्धी विशेषताएँ ग्रहण कर ली थीं। 'महाराष्ट्र नाट्यकला व नाट्य वाङ्मय' ग्रन्थ से ललित के कुछ अंश प्रस्तुत हैं:—

छड़ीदार का प्रवेश

“निर्गुण निराकार, जिनका सब सृष्टीकू आधार, जिनके नीति से वेद बने चार, उस साहेब कू मुजरा करूँ नजर रख्यो मेहरबान, साधुसंत सुजान, मेरे जवाब पर रख्यो ध्यान, कहे बंदा रामजी अज्ञान, सब साधु सज्जन कू मुजरा करूँ ऐसे महाराज निर्गुण-निराकार, उन्ने लिये दशअवतार, किया दुष्टन का संहार, वो दीनोद्वार महाराज हैं मेहरबान सलाम”

पाटील—आप कौन हैं ?

छड़ीदार—हम छड़ीदार, पोशाख पेहना जड़ीजरतार, घीट शोलासे बांधी कमर, गले में डाला भाव मोतन का हार, ग्यानध्यान की बाँधी तलवार, भूतदया ये ही बरछी कमर में, हातमो क्षमा यही छड़ी गुलजार, खड़ा रहूँ साहेब के द्वार, भगवान के नाम की पुकारूँ ललकार, ये ही हम छड़ीदार कहलाते हैं।

पाटील—तुमने कहाँ नौकरी बजाई ?

छड़ीदार—दश अवतार में।

पाटील—कौन से दश अवतार में ?

छड़ीदार—मच्छ, कच्छ, वराह इत्यादि महाराज के दश अवतार में नौकरी बजाई।

पाटील—मच्छ अवतार में कैसी नौकरी बजाई ?

छड़ीदार—पैदा हुआ सागर से, शंखासूर नाम कहलाते उसे, उसने धूम मचाई देवताओं से, वेद छीन लिए ब्रह्मा से, सागर में छुप रह्यो, सागर में छुपाये वेद चार, तब सब सुर ब्रह्मा मिल किया विचार, गये क्षीरसागर साहेब के द्वार, बताया हाल शंखासूर का, तब भगवान ने लिया मच्छ अवतार, शंखासूर मार वेद छीन लिये चार स्वधर्म की स्थापना करके मच्छ अवतार खलास किया। वहाँ की नौकरी छोड़ चले आये।

(इसके पश्चात् दश अवतार का वर्णन और छड़ीदार, चोबदार आदि के स्वांग)
छड़ीदार के पश्चात् भालेदार आकर इस प्रकार अर्ज करता है—

अर्ज सुनिये महाराज, आप गरीब नवाज, मालक सबके सिरताज, लाज रख्यो दास की। खाया ८४ का फेर, देख आया जम से मेर, उंबर नहीं सब ठेर, नजर रख्यो मेहर की। चवदा भुवन सात ताल, स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, देखे बड़े-बड़े भूपाल, सब पर झड़प काल की। चार लोक चार धाम, छ दर्शन दास नाम, कोई पाया नहीं राम, कीरत सुनियो आप की। आपन सुगुण ओंकार, हम तो शून्य का विस्तार, भरा बोध का दरबार, विचार शोभा सात की। खुश हो गये सरकार, दे दिया गले में हार, सिर पर पटका जरीजरतार, पेरण कुसुंबीलाल, दी कमर को शाल, माला दिया ग्यान का, सब दियो शिणगार, शमला, तोड़ा, कटियार, खड़े सज के भालदार, नौकरी दी पास की, यादव करते हैं सलाम, मजलिस संतों की तमाम, मेहर रख्यो सुबोशाम, अरज सुनिया दास की।

(इस तरह 'ललित' नाट्य का विस्तार होता है। विदूषक बीच-बीच में आकर हास्य की सृष्टि करता है। पाटील और अन्य पात्रों के बीच तज्जनित संवाद होते हैं।) हरिदास इस प्रकार अपना स्वांग करता है—

‘भजमन नारायण नारायण नारायण भज मन नारायण। श्लोक।

अष्टादश पुराणानि कवीनां द्वयम्। परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

आ : हा : ! महाराज, ज्या कालाच्या ठायीं कली अन्नमय प्राण — स्वयें विष्णूनें गोकुलांत अवतार धारण केला — ‘तो हा नंदाचिया घरीं, उंबरा चढता टेका धरी’ इत्यादि’।

(इ) गोंधळ

गोंधळ की प्रथा धर्म मूलक है। नामदेव के पूर्व से ही यह प्रथा चली आ रही है। क्योंकि नामदेव द्वारा रचित एक स्वतंत्र अंग ‘गोंधळ’ के नाम से प्राप्त है। गोंधळ’ प्रथा महाराष्ट्र में अनुष्ठानिक महत्त्व रखती है। इस अनुष्ठान को यथाविधि सम्पन्न करनेवाले लोगों की जाति ही गोंधळी नाम से विख्यात है। प्रारंभ में कहा गया है कि तमाशा के अन्तर्गत ‘पवाड़े’ भी कहे जाते हैं। यही पवाड़े गोंधळ के अन्तर्गत देवी-देवताओं की स्तुति एवं यशोवर्णन के रूप में प्रचलित रहे हैं। गोंधळी पहले पाँच देवी-देवताओं की स्तुति करता है, तत्पश्चात् किसी कथा-प्रसंग को आरम्भ कर किसी चरित्र का बखान करता है।

शब्दार्थ की दृष्टि से गोंधळ का तात्पर्य गड़बड़ी अथवा अव्यवस्था से है। अम्बा गोंधळ की विशिष्ट देवी है। गोंधळी गीत गाते समय अम्बा के समक्ष नृत्य करता है। इस आयोजना के साथ नकल और स्वांग भी जोड़े जाते हैं। कदाचित् इसीलिये नाट्य के मिले-जुले रूप को देख कर यह धर्म प्रधान अनुष्ठानिक मनोरंजन गोंधळ कहा जाने लगा हो।

विवाहादि अवसरों पर गोंधळ की व्यवस्था की जाती है। मंडप के नीचे ‘खण’ नामक चोली का वस्त्र बिछाकर, आम्रपत्रों और कलश सहित अम्बा की प्रस्थापना करने के पश्चात् गोंधळी गोंधळ आरम्भ करता है। पवाड़े आदि ग्राम्य वाद्यों के साथ पूरे उत्साहपूर्वक कहे जाते हैं। इस प्रकार संगीत एवं धर्म के बहाने नाट्य तत्वों की अभिव्यंजना होती है।

गोंधळ के स्वांग मनोरंजक होते हैं। पाटिल बुवा और गोंधळी की आरम्भिक बातचीत के पश्चात् इस प्रकार गोंधळ का आरंभ होता है—

सुदिन सुबेळ तुम्हा मांडिला गोंधळ हो ।

पंचप्राण विवदय दोन्ही नेत्राचे हिलाल हो ॥ घृ ॥

घटस्थापना कैली तदूरपुर महाद्वारी हो । आकाशीं मंडप दिधला ते नेत्री तालावरी हो । बैसली देवता पुढें वैष्णवाचें गाणें हो । उदोकार गर्जती गला तूळसीचें भूषण हो ॥

असे गोंधळ कुठें-कुठें पडले होते ? तुलजापुरी कौंडनपुरी बरं कथा कोणची लावूं यजमान ? काल्या चाफ्याची ? वां आग्न पासोड्याची ? कां जायाराणीची ?

पाटील—जायाराणीची

गोंधली—ठीक आहे नमो गणपती, नमो श्रोताया, नमो माझ्या हरिवासु नारायणा हो । हा, हा, हा, कथा एका आतां अमुक फलाण्या गांवचा राजा राजा जी जी, राजा बिसतान्या गांवी गेला जी जी, त्या राजाचें काय बा नांव नांव जी जी, ते कोण्या बेटयाला ठावें ठावें जी जी, एक सौदागर राणी राणी जी जी, तिचे नांव जयाराणी राणी जी जी जयाराणीं नें सिणगार केला जी जी, नेसली जरी जरितारी पाटोलाजी, अंगी मदनाची कांचोली जी जी, पाची बिचव्याचा भुणत्कार कारजी, आपला पति ओवाळितेदव जी मोरगांवच्या मोरबा ठानकाजा, जेजुरीच्या खंडोवा ठानका जा ?'

इस प्रकार के प्रसंग प्रायः गोंधळ आरम्भ करने के पहले प्रस्तुत किये जाते हैं। पुजारी की नकल करते समय कभी-कभी हास्य की सृष्टि होने की पूर्ण सम्भावना होती है। पूजा—“अथ श्री काफर्ड साहेब वार्षिक समारंभस्य, इंग्लिश एसफेस अवतारस्य अद्य शके १०२ सातपट साहेब नाम संवत्सरे.....आदि ।” कभी-कभी तत्कालीन व्यक्तियों के प्रति सामाजिक धारणाओं की अभिव्यक्ति होती है। कथा की सूत्रबद्धता ललित जैसे लोक-नाट्य से सम्भव नहीं। यहां की घटना और वहाँ की घटना यहाँ प्रस्तुत करना कठिन नहीं है।

(ई) बहुरूपिया

मुगलों के दरबार में बहुरूपिया का बहुत स्वागत होता था। बहुरूपिया जैसा कि शब्द से ही ज्ञात होता है, वह व्यक्ति होता है जो भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सके। स्वांग और बहुरूपिया में इतना ही अंतर है कि स्वांग में एक से अधिक व्यक्ति होते हैं जब कि बहुरूपिया स्वतंत्र रूप से भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। मध्य-काल में बहुरूपिया एक धंधा हो गया था। रूप बनाने की प्रथा भारतीय संस्कृति में अन्य नाट्यों की भांति नवीन वस्तु नहीं है। बरकतउल्ला द्वारा १७ वीं शताब्दी में लिखित 'प्रेम-प्रकाश' में रूप भरने का उल्लेख आया है। वैदिक काल में भी यह प्रथा विद्यमान थी। कठोपनिषद् के 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' से यह प्रमाणित होता है। यह प्रथा न केवल महाराष्ट्र का विषय है बल्कि उत्तर-भारत में भी उदर-पूर्ति के हेतु रूप भरनेवाले लोग गाँवों या नगरों में दीख पड़ते हैं। चूँकि मुगलों की देखा-देखी मराठों के दरबारों में भी इस कला को यथोचित प्रोत्साहन मिला है, अतः मराठी नाटकों के पार्श्व में इसका प्रभाव भी स्वीकार करना होगा। बहुरूपिया के संबंध में अनेक लोक कथाएँ प्रचलित हैं। अकबर के दरबार में कई बार बहुरूपियों ने कौशल दिखाये। पेशवाओं ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन प्रदान किया। वस्तुतः मराठी नाटक के विकास के पूर्व इसका भी अपना योग अवश्य है।

अन्य लोक नाट्यों में 'दशावतार' का महत्व उल्लेखनीय है। भैरव-नाथियों द्वारा 'भराड़ी' और 'चित्रकथी' का प्रदर्शन भी किन्हीं अंशों में द्रष्टव्य है। अंतिम दो प्रकार अब बहुत कम देखने में आते हैं। 'दशावतार' अभी भी ग्रामों में लक्षित किया जाता है।

(उ) दशावतार

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व महाराष्ट्र के दक्षिण कोंकण और गोवाक्षेत्र के पूर्व प्रचलित नाटकों में दशावतार का बड़ा प्रभाव था। कथाकली नृत्य और दशावतार में पर्याप्त साम्य है। इसमें कथाकली की भाँति पदों के पीछे से गीत न गा कर मंच पर ही सूत्रधार के द्वारा गाये जाते हैं। पात्रगण मूक अभिनय के स्थान पर खुलकर संवाद बोलते हैं। नृत्य की वेशभूषा संभवतः कथाकली से ही ग्रहण की गई है। पात्रों का मंच पर आगमन भी नृत्य करते हुए नाटकीय ढंग से होता है। तालबद्ध गमक दोनों में प्रायः समान है। कर्नाटक में प्रचलित यक्षगान से भी दशावतार की तुलना की जा सकती है। इसका कुछ प्रभाव बंगाल के यात्रा-नाटकों में भी लक्षित होता है। मामा वरेरकर के मत से बंगाल के गौड़ ब्राह्मणों के कतिपय कुटुम्ब इधर आ बसे थे जिनके सम्पर्क से यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्भव हुआ। कहीं-कहीं अभी भी दशावतार को महाराष्ट्र में जात्रा (यात्रा) से ही कहा जाता है।

महाराष्ट्र के पौराणिक नाटक बहुत कुछ दशावतार के निकट रहे हैं। पौराणिक नाटकों का आरम्भ सूत्रधार से होता है। प्रारम्भ में वह गणपति का आह्वान करता है और तदनन्तर सरस्वती की वन्दना। मंच पर दोनों देव-चरित्र वाद्यों की निर्धारित वादन-शैली का अनुसरण करते हुए आते हैं। दशावतार में जैसा कि बताया गया है, पात्रगण नृत्य करते हुए प्रवेश करते हैं। पौराणिक नाटकों के पात्रप्रवेश का ढंग इससे थोड़ा भिन्न है। दोनों नाटक शैलियों में विदूषक अपनी भाव-भंगिमाओं से दर्शकों का मनोरंजन करता है। दशावतार का विदूषक स्वयं को 'महादवी' कहता है, जो संस्कृत के 'माधव्य' का अपभ्रंश है। दशावतार में एक और पात्र हास्य की सृष्टि करता है। वह है 'शंखासूर'। गणपति और सरस्वती ज्यों ही मंच पर से जाते हैं, वह नाचते हुए आ कर दक्षिण के कोंकण की 'कुंडाली' अथवा 'मालवणी' भाषा में सूत्रधार से बातचीत करता है। शंखासूर ब्रह्मा से तीन वेद चुराता है। उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिये सूत्रधार देवताओं का आह्वान करता है। उस समय विष्णु का नाचते हुए आगमन होता है। शंखासूर और विष्णु में युद्ध का दृश्य मंच पर उपस्थित होता है। विष्णु अपनी शक्ति से शंखासुर को मारकर ब्रह्मा को वेद प्रदान करते हैं।

यह तो हुई दशावतार की प्रारम्भिक भूमिका। इसके पश्चात् मत्स्यावतार में वास्तविक कथा का आरम्भ होता है। सभी अवतारों का मंच पर प्रवेश आवश्यक नहीं है। महाभारत के प्रायः उन प्रसंगों का मंच पर अभिनय किया जाता है जिनमें युद्धादि घटनाओं का समावेश है। रामायण के कथानक बहुत कम मंच पर खेले जाते हैं। कथानक सूत्रधार की सहायता से स्पष्ट होता जाता है। प्रत्येक पात्र के प्रवेश पर सूत्रधार परिचय देता है। वह विशेष प्रकार के शब्दोच्चार के साथ झांझ बजाता है। और उसके साथ ही मृदंग की थाप गमकती है। प्रवेश के साथ ही कुछ समय तक पात्र मंच पर नृत्य करता है और तदनन्तर निर्धारित शैली में स्वगत-कथन करने के बाद अपना स्थान

ग्रहण करता है। लड़ाई के दृश्यों में वाद्यों की गत मनोरंजक होती है। घंटों पटेबाजी चलती है। बढ़ा-बढ़ा कर अपनी बात कहने और अति नाटकीय हो कर अभिनय करने की प्रवृत्ति पौराणिक नाटकों की तरह दशावतार में भी लक्षित की जाती है।

दशावतार के लिये मंच के विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती। साधारण-सा रंगीन पर्दा पीछे बाँध दिया जाता है। एक ओर वादक बैठ जाते हैं और दूसरी ओर पात्र-प्रवेश के लिये स्थान छोड़ दिया जाता है। कुछ स्थानों में अवतारों का अभिनय करनेवाले पात्र दूर किसी स्थान से (वेषभूष से सज्जित हो कर) मंच पर आते हैं। मंच पर प्रवेश करने के पूर्व वे पूरे मार्ग भर नृत्य करते हैं। निश्चय ही उनके इस परिश्रम में वादक भी सहायक होते हैं। मार्ग में खासा मनोरंजक दृश्य उपस्थित होता है। पात्र और दर्शक इस प्रयोजन में प्रायः समरस हो जाते हैं। गणपति की लम्बी सूंड दो-तीन बालक उठाये हुए चलते हैं। गणपति का प्रभाव डालने के लिये पात्र का वक्रिम गति से पद-संचालन और झूमना अथवा सरस्वती का नकली मोर के ढाँचे को अपने अंग पर बाँध कर ऐसे हाव-भाव करना मानों वह ठौर पर ही बैठी हो, पर्याप्त दर्शनीय प्रसंग हो जाते हैं। स्त्रियों का अभिनय प्रायः पुरुष ही करते हैं। प्रत्येक पात्र की ठहरी हुई वेष-भूषा होती है। अन्य प्रदेश के लोक-नाट्यों की भाँति मध्यरात्रि के थोड़े पहले दशावतार का अभिनय आरम्भ हो कर प्रातःकाल तक चलता है।

गोवा में 'धुमट' नामक एक लोक वाद्य का उपयोग किया जाता है। उस वाद्य की ताल पर जो नृत्य होता है उसकी अनुरूपता दशावतार के नृत्य में होती है। कहते हैं, पहले गोवा-क्षेत्र के दशावतार में धुमट वाद्य का उपयोग होता था। मृदंग और झांझ का उपयोग भी दशावतार में किया जाता है।

दशावतार का प्रचार आधुनिक प्रभावों के कारण महाराष्ट्र की भूमि से उठता जा रहा है। गाँवों में फिर भी यदाकदा लोक-नाट्यों के ऐसे दृश्य देखे जाते हैं।

अन्य लोक-नाट्यों में भैरवनाथियों द्वारा 'मराठी' और 'चित्रकथी' का प्रदर्शन भी किन्हीं अंशों में उल्लेखनीय है। उक्त सभी नाट्य प्रकारों में पवाड़े और लावनियाँ सामान्य तत्व हैं, जो महाराष्ट्र की अपनी खास विशेषताएँ हैं।

आज का महाराष्ट्रीय रंगमंच बहुत आगे बढ़ा हुआ है। उसके विकास में परम्परा का अपना योग निर्विवाद है। यद्यपि संस्कृत नाटकों की परम्परा ने मध्य में मराठी नाटकों को प्रभावित किया अवश्य, पर १९ वीं शताब्दी के अन्त तक गतिपूर्वक जो परिवर्तन महाराष्ट्र में हुए, उन्होंने लेखक, अभिनेता और जन के बीच बहुत कुछ भेद पाट दिये। जन के संपर्क में जो मंच पनपे वे उन मंचों से अधिक टिकाऊ प्रमाणित हुए, जो विशिष्ट वर्ग की सम्पत्ति बन कर चले आ रहे थे।

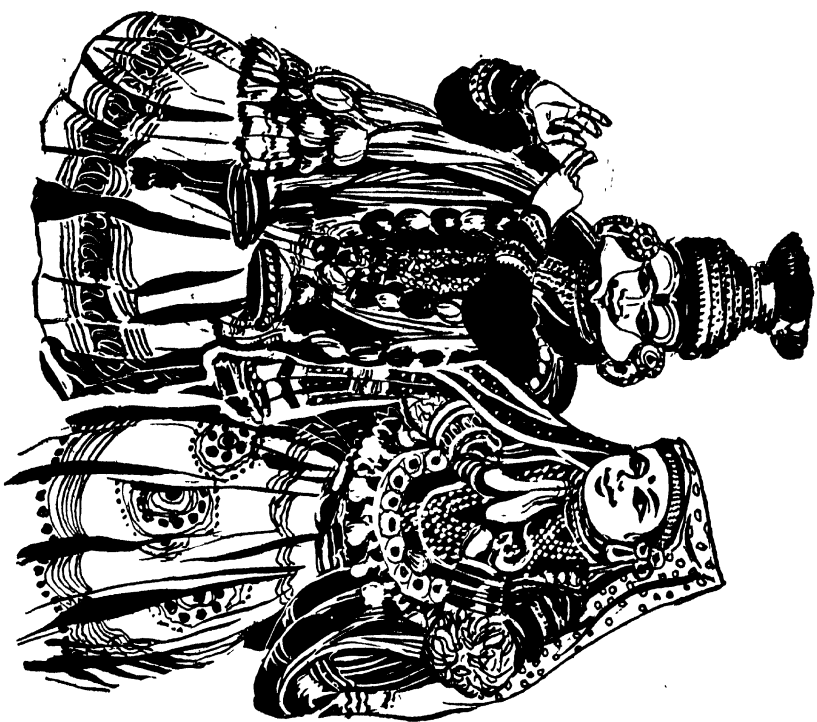


यक्षगान, विथिनाटकम् और तोलबोम्मुलु

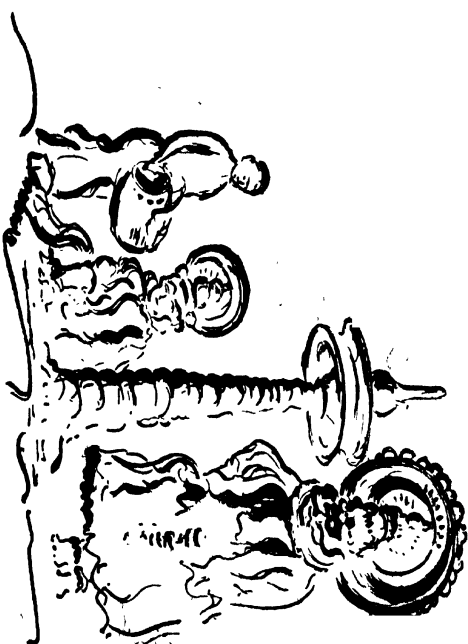
यक्षगान दक्षिण भारतीय लोक नाट्य का वह प्रकार है जो तामिल, तेलगू, कन्नड़ भाषा-भाषी क्षेत्र की ग्रामीण जनता में प्रचलित है। तेलगू में इसे 'विथि' या 'विथि भागवतम्' भी कहते हैं, परन्तु दोनों में अवान्तर भेद अवश्य है। यक्षगान नाटक की परम्परा आन्ध्र, कर्नाटक और तामिल संस्कृति की वाहक है। इसकी प्राचीनता निसंदेह निर्विवाद है, तो भी निश्चित रूप से इसकी उत्पत्ति के विषय में मतैक्य नहीं है। यक्षगान नाटक के लिये 'प्राकृत नाटक' शब्द का दूसरा प्रयोग उपलब्ध है। प्रतीत होता है कि यह अवश्य ही ऐसा नाटक रहा है जिसमें संस्कृत की रूढ़ परम्परा का निर्वाह नहीं होता था और जो लोगों के अधिक निकट था। वेदूरि प्रभाकर शास्त्री ने यक्षगान की उत्पत्ति 'कुरवंजु' नामक नृत्य से मानी है। प्राचीन काल में द्राविड़ी नाटकों को भी 'कुरवंजु' कहा जाता था। कुरवंजु 'कुरव' और 'अंज' से मिलकर बना है। 'कुरव' का तात्पर्य जाति विशेष और 'अंज' का नृत्य से है। अर्थात्, कुरव जाति का नृत्य। एक दूसरे विद्वान श्री नेलटूरी वेंकट रमणय्या 'कुरवंजी' को तामिल शब्द बताते हुए कहते हैं 'कुरवंजी' एक जाति की स्त्री है। तेलगू में इसे 'एरूक' कहते हैं। प्राचीन काल में तामिल यक्षगानों में कुरवंजी स्त्री पात्र का प्रवेश होता था। कुरवंजी पात्र का जिस यक्षगान में प्रवेश किया जाता वह कुरवंजी कहलाता है। केवल कुरवंजियों से यक्षगानों की उत्पत्ति नहीं हुई। यक्षगानों के विकास पर प्रकाश डालते हुए वेदूरि शास्त्री का कथन यहां उद्धृत करना आवश्यक है। लिखा है :—

“आन्ध्र देश के श्रीशैल, इंद्रकील नगर (विजयवाड़ा) आदि शैव क्षेत्रों में नृसिंह क्षेत्रादि, वेदाद्रि पर्वतों पर वर्षोत्सव के समय नागरिक इकट्ठा होते थे। उनके विनोदार्थ आदिवासी नृत्य विशेष का प्रबंध करके धनोपाजन करते थे। 'कोरवी' जाति से किया गया नृत्य 'कोरवंजु' कहलाता था। 'कोरवंजु' नृत्य विशेष से क्रमशः जाति विशेष में बदलता रहा। ये नृत्य विशेष रूप में ही न रहकर प्रबन्धों के रूप में परिवर्तित हुए और कालानुगुण पर्वत प्रदेशों की महत्वपूर्ण कथाओं से शिव-विष्णु लीला कथाओं में सम्मिलित होकर विशिष्ट गेय-नाट्य बन गये। ये गेय-नाट्य पहले नृत्य विशेषों पर निर्भर थे। धीरे-धीरे इनका प्रचार नगरों में भी होता रहा है जिससे नागरिकों की भी एक विशिष्ट रुचि इनके प्रति होती गई। उन नृत्य दृश्यों को यक्ष या कलावान खेलते थे। दृश्य नृत्याभिनय के साथ ही साथ गेयों में वचन का श्रव्यरूप भी जोड़ दिया गया। राजा सभाओं में देवोत्सव जातर (यात्रा) के समय यक्ष गंधर्वादि वेष धारण कर वेश्याओं द्वारा प्रदर्शित कराते तथा नृत्य धर्म से गेय धर्म की अधिकता होने से यक्षगान कहलाते थे”।

१. देखिये वेदूरि लिखित, सुग्रीव विजय' की भूमिका तथा कर्ण राजशेख गिरिराव का लेख—'आन्ध्र देश के यक्षगान' (सम्मेलन पत्रिका, पृष्ठ, २०१०)।



‘यक्षगान’



‘यक्षगान’ का प्रारम्भ



‘कथाकली’ का एक पात्र रूप-संज्ञा करते हुए ।



कठपुतलियों के खेलों से भी इनकी उत्पत्ति का अनुमान किया जाता है, क्योंकि आरम्भ में इनमें संवादों का अभाव था। नृत्य और गान के साथ इनका सामंजस्य होते ही ये 'यक्षगान' की संज्ञा से अभिहित किये गये।

दक्षिण भारत में कथाकली नृत्य की दो भिन्न शैलियों में यक्षगान का भी उल्लेख किया जाता है। एक कचपुड़ी और दूसरी यक्षगान। दोनों शैलियों का प्रदर्शन करने वाली मंडलियाँ गाँव-गाँव घूमती हैं। चूंकि इनके नृत्य कथात्मक और वेषभूषा कथाकली की भाँति भड़कीली होती है, इसलिये इन्हें लोक नाट्य की उस श्रेणी में स्थान प्राप्त है, जो पौराणिक कथानकों के आश्रय पर संगीत और नृत्य की सहायता से प्रभाव उत्पन्न करने में क्षम है।

इस विषय में विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न मतों से वास्तविकता को बौद्धिक तर्कों का बाना पहना दिया। साधारणतया, वेदूर शास्त्री का मत स्वीकार करना उचित जान पड़ता है।

यक्षगान की प्राचीनता

यक्षगान नृत्य नाट्य है जिसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग होता है। लम्बे-लम्बे बोल पात्रों को सहज ही कंठस्थ रहते हैं। इनमें वर्णन का प्राधान्य होता है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में ये नाटक न केवल मनोरंजन के साधन थे, अपितु प्रचार में इनका भरसक उपयोग हुआ है। ११वीं एवं १२वीं शताब्दी के जैन ग्रन्थों में यक्षगान नाटक को देशी गीत (लोक गीत या ग्राम गीत) कहा गया है। 'काकतीय युग' में इसे धर्म के साथ पौराणिक चरित्रों का प्रदर्शन करने का माध्यम बनाया गया। साधारण लोग तो इसमें भाग लेते ही थे, नगर की वेश्याएँ इसमें होती थीं। काकतीय प्रतापरुद्र की वेश्या मायलदेवी और भीमेश्वर पुराण की एक वेश्या पात्र 'ईशाणि वेष' धारण कर भिक्षाटन करती थीं।

बारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारतीय राजनीति में काफी परिवर्तन हुए। देश में एकता का अभाव और सामंतवाद का प्रबल होना कला के लिये क्षति का कारण हुआ। पण्डित जनता के मनोरंजन ज्यों के त्यों जारी रहे। नगों के सम्य समाज में यक्षगानों का प्रचार क्रमशः बढ़ने लगा था। श्रीनाथ कविने (१४वीं-१५वीं शताब्दी) यक्षगानों की जो प्रशंसा की है, उससे यह विदित होता है कि राजाओं ने इन्हें प्रोत्साहन प्रदान किया। १६वीं शताब्दी के कवियों ने राजाओं से प्रोत्साहन पाकर अनेक यक्षगानों की रचना की। राजा नृसिंह रायल (१६वीं शताब्दी) ने अष्टभावा कवि को 'चन्नकवि' और 'सोभद्र चरित्र' नामक यक्षगानों पर अतुल धन दिया था।

स्त्रियाँ पुरुष वेष धारण कर यक्षगानों में भाग लेती थीं। पिंगली सूरन्ना नामक स्त्री का उल्लेख प्राप्त हुआ है जो 'प्रभावती प्रद्युम्न' और 'गंगावतार' नाटकों में अभिनय करती थी। 'रंग जम्मा' नामक स्त्री का भी उल्लेख मिलता है, जो 'मन्तरूदास विलास नाटकम्' की लेखिका बतायी जाती हैं। तंजोर राजाओं को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने यक्षगानों में संस्कृत नाट्य शैली का प्रवेश कराया। रंग जम्मा तंजोर के ही राजकुमार विजय राघव की स्त्री थी। और बहुत संभव है उसने इस परम्परा को काफी आगे बढ़ाया हो। उसके शासन काल में मधुरबाणी और रामभद्राम्बा जैसी कवयित्रियों को इसी आशय से आश्रय प्रदान किया गया था।

यक्षगानो की यह परम्परा ठेट १७वीं शताब्दी के अन्त तक साहित्य में अनु-प्राणित रही। १७वीं शताब्दी के पश्चात् लगभग १०० नाटक ऐसे लिखे गये जिन पर यक्षगान का पूरा प्रभाव है।

यक्षगान नाटक की भाँति बम्बई और हैदराबाद के निकटवर्ती ग्रामों में कुछ लोक-नाट्य 'दोड्ड अट्ट' अर्थात् जनता के नाटक या 'बयालता' (खुले रंगमंचीय नाटक) तथा 'अट्टदत्त' (उन्नत मंचीय नाटक) के नाम से प्रचलित हैं; किन्तु उन पर आधुनिकता का पर्याप्त प्रभाव है। यह बात उल्लेखनीय है कि वे लिपिबद्ध नहीं हैं।

इन दोनों नाट्य प्रकारों का प्रचार कर्नाटक में भी है। वस्तुतः वही उनकी मूल भूमि है। नृत्य और संगीत इनमें प्रधान रूप से अभिनय के सहायक अंग हैं। हिम्मेला या भागवत द्वारा महाभारत और रामायण की कथाओं अथवा वैदिक गाथाओं का आधार प्रायः इन नाटकों में लिया जाता है। कन्नड़ का आरंभिक साहित्य पद्यबद्ध है। अतः लोकजीवन में नाटकों के कथानकों पर पद्य की छाप होना स्वाभाविक था। सतपदी में ऐसी कितनी ही सामग्री उपलब्ध है जो रंगमंच के लिये उपयोगी कही जा सकती है। स्थानीय वीरों की कथाओं पर आधारित ये नाटक कदाचित् पौराणिक अथवा संस्कृत ग्रन्थों की गाथाओं की अपेक्षा अधिक मौलिक रहे हैं।

यक्षगान नाटकों की कथावस्तु यों तो रामायण, महाभारत और भागवत की पौराणिक एवं लोकप्रिय कथाओं से ली जाती है। किन्तु वह लोक भावों से अनु-रंजित होकर अभिनेताओं के कौशल और मुखाग्र संवादों का स्पर्श पाकर अधिकतर लोकपरक हो जाती है। समय समय पर सामाजिक मान्यताएँ उनमें प्रश्रय पाकर परम्परा का स्वरूप धारण करती गईं। अनेक वर्षों के पश्चात् लिंगायत संत अल्लामा प्रभु का जीवन चरित्र मंच का विषय बनाया गया—जो वस्तुतः परम्परागत शैली में प्रयोग कहा जा सकता है।

कथाकली और यक्षगान

कथाकली केरल का नृत्य नाट्य है। कला की दृष्टि से उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति लोकजीवन की अनेक अंशों में समुचित व्यञ्जना है। लोकपरक अभिव्यक्ति के साथ शास्त्रीय पक्ष भी कथाकली में समावृत्त है। पृष्ठ में कथापाठ होता है और मंच पर पात्र अपनी मूक मुद्राओं और अभिनय द्वारा नाटकीय तत्त्व की उपलब्धि करते हैं।

यों तो कथाकली की प्राचीनता निसन्देह मान्य है तथापि १८वीं शताब्दी के लगभग इसका विकास हुआ। इसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। दूसरी शताब्दी में रचित तामिल काव्य 'चिलप्पडिकरम्' में एक चक्कीयार जाति का उल्लेख मिलता है। उसके समय में प्रचलित 'कुडियत्तम' से कथाकली का संबंध जोड़ा जाता है। किंवदन्ती है कि कालीकट के राजा जमोरिन, तत्कालीन प्रचलित लोकनृत्य के आधार पर 'कृष्णअत्तम' नामक एक नाट्य-रचना कथाकली शैली में तैयार की। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली। परिणामतः एक पड़ोसी राजा ने नम्बूद्री ब्राह्मणों की सहायता से 'रामअत्तम' तैयार किया। 'कथाकली' शब्द का अर्थ है संगीत में निबद्ध कथा। नृत्य होते हुए भी अभिनय प्रसाधन कथाकली में प्रमुख है। साधारण से उन्नत मंच पर 'त्रिशला' (पर्दा) की व्यवस्था, चेहरे लगाना, रूप-

सज्जा, सभी प्रकार के पात्रों का अभिनय चैंडक (नग्गरे), मुद्दलम (मृदंग), बोंसुरी, मँजीरे आदि वाद्यों का मिला-जुला वातावरण नाट्य की सृष्टि ही अधिक करता है। नाट्यों में जिस प्रकार दृश्य योजना होती है, ठीक उसी प्रकार अनेक दृश्यों में एक ही कथा प्रस्तुत की जाती है।

प्रायः केरल के कथाकली नृत्य से यक्षगान नाटकों की तुलना की जाती है। जहाँ तक वेषभूषा, भावभंगिमा, मुद्राएँ और नृत्य का प्रश्न है यक्षगान नाटक—कथाकली के काफी निकट है। अन्तर केवल अभिव्यक्ति में है। दोनों के प्रदर्शन और अभिनय का ढंग अलग-अलग है। विषयवस्तु के संगठन में अधिक सौन्दर्य यक्षगान नाटक के अन्तर्गत निहित है। यद्यपि लोक-कलाकारों द्वारा इनका निर्माण होता है तथापि लोक मंच की स्वाभाविक विशेषता एवं सौन्दर्य रचना की भाव-गरिमा में कहीं भी शैथिल्य नहीं दीख पड़ता। कथाकली का आधार लम्बी रचनाओं में से चुने हुए सुन्दर अंश होते हैं, तथा यक्षगान नाटक अपने आप में परिपूर्ण और व्यवस्थित रचना होती है।

यक्षगान नाटक की कोटि में ही गिने जाते हैं। भरतमुनि ने नाटक को दृश्य काव्य कहा है। यद्यपि उसमें पद्य और गद्य दोनों का समावेश आचार्यों ने स्वीकार किया है। यक्षगान नाटक में गीत और नृत्य का सामंजस्य जनमुलभ रुचि के अनुसार पाया जाता है। संवाद का निर्वाह भी गीतों द्वारा होता है। कथा गीतों के माध्यम से क्रमशः खुलती जाती है। नृत्य के साथ पात्रों का अभिनय प्रदर्शन और संवाद गायन इस ढंग से चलता है कि लोग घंटों बैठे रहते हैं। कैसा ही पात्र क्यों न हो वह पद्य में भाषण करेगा। इससे कहना होगा कि ऐसे लोक-नाटकों का अधिकांश आधार लोक-गीत है।

लोक-गायकों की परम्परा ने आन्ध्र और कर्नाटक के ग्रामों में यह कला सम्हाले रखी। खूले मंच पर इन नाटकों का प्रदर्शन समय-समय पर गाँवों में होता है। गाँव के किसी भी व्यक्ति अथवा कुछ लोगों के मिले-जुले सहयोग से नाटक-मंडलियों की आर्थिक कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं। सहयोग देने की यह प्रथा भारतीय ग्रामों में कोई नई बात नहीं है। जातक ग्रन्थों में धनीमानी लोगों द्वारा नृत्य-नाट्य आदि उत्सवों के आयोजन करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। दर्शकगण भी कला-अभिनय, आदि से प्रसन्न होकर सहायता प्रदान करते थे। तामिल के प्रसिद्ध कवि इलंगू ने अपने काव्य-ग्रन्थ में चोल की राजधानी पुहार के मेले का वर्णन किया है। उसमें नृत्य, नाट्य और अन्य मनोरंजन साधनों का विस्तृत वर्णन किया है।

वर्तमान यक्षगान नाटक की रक्षा का श्रेय लोक-गायकों को है। इन नाटकों के लिये किसी तरह का बन्धन नहीं है। खुला मंच और दर्शकों की कोई सीमा नहीं। कुछ वर्ष पूर्व इस परम्परा को जीवित रखने के हेतु कवि वल्लतोल के केरल कला-केन्द्र की भाँति यक्षगान कला केन्द्र स्थापित करके एक समिति की स्थापना की गई है। इस समिति के प्रयत्न से शिक्षित समाज का दृष्टिकोण इस दिशा में उन्मुख होने लगा है।

विथि नाटकम्

‘विथि नाटकम्’ या ‘विथि भागवतम्’ तेलगू का लोक मंच है। यक्षगान की अनेक विशेषताएँ इसमें सम्मिलित हैं, अतएव एक दृष्टि से यह यक्षगान का ही भेद है। पिछली शताब्दियों में इसका खूब प्रचार रहा। ‘कृदाभिरामम्’ नामक श्रीनाथ कवि का नाटक इसी श्रेणी में आता है। ‘विथि नाटकम्’ का अर्थ है वह नाटक जो मार्ग में प्रदर्शित हो। स्पष्ट है कि ये नाटक लोक जन के प्रबल साधन ही थे। जहाँ जनता में इसका अपरिमित प्रचार रहा वहाँ किन्हीं अंशों में शासकों द्वारा भी इसे प्रेरणा मिली। ‘कचपुड़ी’ की ब्राह्मण कलाकार मंडलियाँ यात्रा करके अपने प्रदेश की जनता को इनके द्वारा प्रायः मुग्ध कर दिया करती थीं। गाँवों की जनता के लिए इन नाटकों में मनोरंजन की वह प्रणाली उपलब्ध है, जिनका ये परम्परा से उपयोग करते आ रहे हैं। इनमें एक या दो पात्र ही मंच पर आते हैं। स्त्रियाँ समूह बनाकर नृत्य करती हैं। कृष्णलीला को नृत्याभिनय द्वारा देशी धज में बड़ी सफलतापूर्वक विथिनाटकम् का विषय बनाया गया है। मंच प्रायः मंदिर के खुले भाग में अथवा साधारण ऊँचाई पर बनाया जाता है। यक्षगान की तुलना में ‘विथि-नाटकम्’ ग्रामीण अधिक है।

तोल बोम्मलु

तोल बोम्मलु चमड़े की कठपुतलियों का खेल है। रामायण और महाभारत की कथाएँ इनके द्वारा परदे पर उतारी जाती हैं। सूत्रधार बड़ी कुशलता से इन पुतलियों को संचालित करता है, जैसा कि कठपुतलियों का तमाशा करनेवाले किया करते हैं। पुतलियों के स्थान पर कोई भी व्यक्ति पर्दे के पीछे से संवाद-गायन करता है। कहते हैं कि इंडोनेशिया के बोयांग नाटकों में इस तरह के भारतीय मनोरंजन की प्रणाली का काफी प्रभाव लक्षित होता है। हास्य का प्रभाव पैदा करने का प्रयत्न सूत्रधार के सहयोगी बराबर करते हैं। ‘तोल बोम्मलु’ ग्रामीण होते हुए भी अत्यन्त प्राचीन है।

कामनकोट्टु

पौष के महीने में दक्षिण भारत में पोंगाल नामक उत्सव मनाया जाता है। इस समय साधारण जनता विभिन्न प्रकार के मनोरंजन का आयोजन करती है। इसमें एक नाट्य का प्रकार है ‘कामनकोट्टु’। ‘कामनकोट्टु’ कामदेव और रति की पौराणिक गाथा पर आधारित नाट्य है। दो पात्र कामदेव और रति का रूप धारण कर नृत्य करते हैं और वादक मुदंग और धपड़ी के साथ कथा गाते हैं। लंका में भी जो दक्षिण भारतीय परिवार जमकर बसें हैं वे भी यही नृत्य नाट्य प्रति वर्ष करते हैं।

जहाँ तक दक्षिण भारत में लोकनाट्यों का प्रश्न है उनके पीछे पौराणिकता अधिक है। तामिलनाडु, आन्ध्र, कर्नाटक सभी क्षेत्रों में ग्रामीण नाट्य मनोरंजन की अपेक्षा धर्मगत भावना से अनुप्राणित कहे जा सकते हैं। प्रायः देर रात्रि में आरंभ होकर ये सुबह तक चलते हैं। उत्साह की कमी भी नहीं पायी जाती। साधारण से आयोजन पर भीड़ हो जाना स्वाभाविक है। बड़े पात्रों में तेल भर कर प्रकाश की व्यवस्था, रूप-सज्जा, वाद्य आदि का ठाट देखते ही देखते जम जाता है। कोई लिखित सामग्री नहीं होती। सभी पात्र अपनी स्वाभाविक धज से बोलते हुए कथा को आगे बढ़ाते हैं।

दक्षिण भारत के उक्त लोक-नाट्यों की आत्मा एक ही है । धार्मिक तत्वों से परिपूरित होते हुए भी सामाजिक जीवन का चित्र, अभाव, दैन्य, चमत्कार और हास-परिहास की सामग्री उनके गतिशील जनसुलभ भावों का प्रतिनिधित्व करती है ।

तामिल, तेलगु और कन्नड़ी भाषाओं में अनेक एक-दूसरे से मिलते-जुलते रूप मिलते हैं । द्राविड़ी संस्कृति के अध्येयताओं को इन लोक-नाटकों में उत्तर भारतीय लोक-नाट्य परम्परा की अपेक्षा संस्कृत नाट्यों की परम्परा का स्पर्श अधिक मिलेगा । ग्रामीण जन की स्फूर्ति और आन्ध्र, कर्नाटक और तामिल के संस्कारों का प्राणोच्छ्वास यक्षगान, विथिनाटकम्, और तोलबोम्मल के स्वरों में स्पन्दित होता है ।



विनिध प्रहसन

बिदेसिया

‘बिदेसिया’ बिहार के भिखारी के प्रयत्नों से विकसित भोजपुर जनपद का ऐसा नाट्य है जिसमें प्रेमकथाएं, सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में अभिनय का आधार बनाई गई हैं। ‘बिदेसिया’ की विशेषता उसकी आधुनिक भाव-व्यञ्जना और सामाजिक यथार्थ पर करारी चोट है। आज के भोजपुर और बिहार क्षेत्र में इस प्रकार के गीतनाट्य प्रायः खेले और लिखे जा रहे हैं।

कड़ा

राजस्थान में वीररस पूर्ण एक नाट्य शैली ‘कड़ा’ के नाम से विख्यात है। कड़ा में किसी लोक कथा का गायन एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है, पर उसकी प्रमुख पंक्तियां पूरा समूह दुहराता है। वाद्य के नाम पर नगारा ही टेक झेलने पर किड़किड़ाता है।

जट्ट-जट्टनी

मिथिला, उत्तर बिहार और भोजपुर क्षेत्र के अनेक ग्रामों में गीतों से भरा यह लघु प्रहसन बहुत प्रचलित है। मूक अभिनय इससे सम्बद्ध है। साधारणतया बिना गद्य के गीत ही गीत में यह प्रहसन पांच अंकों तक विस्तार पा लेता है। अंकों की मान्यता यों तो साधारण लोगों में नहीं होती, पर कथानक के मोड़ ही अंकों की उद्भावना अपने आप कर देते हैं। चौमासा लगते ही स्त्रियां इस प्रहसन द्वारा एकत्र होकर प्रायः मनोरंजन करती हैं। दो दल में विभक्त होकर इसकी आयोजना की जाती है। एक दल की प्रमुख जाट (जट्ट) और दूसरो की जाटनी (जट्टनी) बनती है। दोनों दल एक दूसरे के समक्ष विशेष मुद्रा में खड़े होकर अभिनय के साथ गीतों ही द्वारा उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं। जो स्त्री जाट का अभिनय करती है वह अपने माथे पर मोटा साफा या पगड़ी और तन पर बंडी पहन लेती है। शेष पात्र जखुरत के अनुसार जो भी मिले उसे पहनकर अभिनय का वातावरण बना लेते हैं। प्रस्तुत प्रहसन में किसी वाद्य की आवश्यकता नहीं होती। मंच मैदान में ही समझो। जहां थोड़ी सी स्त्रियां एकत्र हो सकती हैं, वही जगह मंच के लिये पर्याप्त है। नीचे “जट्ट-जट्टनी ” का उदाहरण उद्धृत किया गया है:-

जाट कहता है -

‘चल चल हे जट्टिन, जमुनमां के तीर ।

हम टीकवा बेसाहब जमुनमां के तीर ॥

(“हे जट्टी, यमुना के किनारे चलो, वहां मैं तुझे टीका खरीद दूंगा ।”) जट्टी इनकार की मुद्रा में कहती है --

‘टीकवा मँगलीओ जट्टा, टीकवो न लैल जट्टा ।
मँगीआ उदास मोर, हम नहीं जएबों जमुनमाँ के तीर ॥’

(“ मैंने तुमसे टीका मांगा था, तुम नहीं लाये । मेरी मांग उदास है, मैं यमुना के किनारे नहीं जाऊंगी । ”)

जट्टा उत्तर देता है-

‘जब जब टीकवा ललिआँ जट्टिन, टीकवा काहे ने पेन्हल हे ।
हरी-हरी चुनरी समरिया, नैहरा काहे गेल हे ॥
माय बाप निरधन जट्टिन, बेचि-बेचि खलको हे ।
मँगीआ उदास जट्टिन, नैहरा का गेल हे ॥’

(“ जब-जब मैं टीका लाया तब-तब तुमने पहना क्यों नहीं ? पीहर जाने से तेरी हरी चुनरी धूमिल हो गई । हे जट्टी, तेरे मां-बाप गरीब हैं, वे तेरा टीका बेच कर खा गये । अब तो तेरी मांग उदास ही रह गई, तू पीहर क्यों गई ? ”)

अब जट्टी की मूक मानलीला प्रारंभ होती है । जट्टा मनाने का अभिनय करता है पर जट्टी मानती नहीं । वह झमक-झमक कर दूर हो जाती है । यहां से दूसरा अंक प्रारंभ होता है । जट्टा खीझ कर कहता है -

‘लम्म के चलिह जट्टिन, लम्म के चलिह न ।
जैसे काँच कँरचिया लम्मे, तैसे लम्मिह न ॥’

(“ हे जट्टी, नम्रतापूर्वक चलो । जैसे कच्चे बांस की टहनी झुकी रहती है वैसे ही झुक कर रहो । ”)

जट्टी उत्तर देती है -

‘न लम्मवो न लम्मवो हो जट्टा, न लम्मवो न ।
जैसे गोहूमन साँप ऐंडतै, तैसे ऐंडवो न ॥’

(“ हे जट्टा, मैं नहीं नम्रता से रहूंगी । जिस प्रकार गेहुँअन सर्प गर्वोन्मत्त होकर रहता है इसी तरह रहूंगी । ”)

जट्टा -

‘लम्म के चलिह ह जट्टिन, लम्म के चलिह न ।
जैसे गाँव के पुतोह लम्मे, तैसे लम्मिह न ॥

(“ हे जट्टी, नम्रतापूर्वक चलो । जिस तरह गाँव की वधुएं अवनत होकर चलती हैं उसी प्रकार चलो । ”)

जट्टी -

‘न लम्मवो न लम्मवो हो जट्टा, न लम्मवो न ।
हम त बाबा के बुलारी धीआ, ऐँठ चलवो न ॥

(“ हे जट्टा, मैं नहीं नम्रता से रह सकती । मैं अपने पिता की प्यारी कन्या हूँ, मैं तो इठला कर ही चलूंगी ” ।)

अब जट्टा धमकी की मुद्रा में कहता है

‘लम्म के चलिह हे जट्टिन, लम्म के चलिह न ।
हमर बाबा सरदार जट्टिन, बँधवाए देवो न ॥

(“हे जट्टी, नम्रतापूर्वक चलो। नहीं तो मेरे पिता सरदार हैं तुझे बँधवा दूंगा।”)
इस पर जट्टी भी तमक कर कहती है—

‘न लम्मवो न लम्मवो हो जट्टा, न लम्मवो न ।

हमर बाबा जमींदार जट्टा, छोड़ाये लेतौ न ॥’

(“ हे जट्टा, मैं नहीं नम्रतापूर्वक रहूंगी। मेरे पिता जमींदार हैं वे मुझे छुड़ा लेंगे। ”)

दूसरा अंक समाप्त होकर अब तीसरा अंक प्रारंभ होता है। इसमें जट्टा पर-
देश जाने की तैयारी करता हुआ कहता है—

‘हमर त टोपिया बेच खैल जट्टिन,

अब जट्टिन जाये देह विदेस ।

हमर त कुरता बेच खैल जट्टिन,

अब जट्टिन जाये देह विदेस ॥’

(“ हे जट्टिन, तुम तो कुरता-टोपी बेच कर खा गई, अब मुझे परदेश जाने दो। ”)

जट्टी इनकार के मुद्रा में कहती है—

‘ओहू से उत्तम सिलाय देब हो जट्टा,

पेन्हाय देब हो जट्टा ।

जनि जट्टा जाह विदेश ॥’

(“ हे जट्टा, मैं उससे भी उत्तम सिलाकर तुम्हें पहनाऊंगी। तुम कृपया विदेश मत जाओ। ”)

जट्टा—

‘हमर त धोतिया बेच खैल जट्टिन,

अब जट्टिन जाये देह मोरँग देस ।

हमर त छत्ता बेच खैल जट्टिन,

अब जट्टिन जाये देह मोरँग देस ।

(“ हे जट्टी, मेरी धोती और छाता तो तुम बेच कर खा गई। अब मुझे मोरँग देश जाने दो ” ।)

जट्टी रोने की मुद्रा में अनुय भरे शब्द में कहती है—

‘मोरँग मोरँग सुनिये, मोरँग मति जाहु हो जट्टा,

मोरँगवा में असली जोगनियाँ हो जट्टा ।

उलटिओ न ताके पलटिओ न ताके हो जट्टा ॥’

(“ मैं मोरँग-मोरँग सुनती हूँ, मोरँग नहीं जाओ। सुनती हूँ कि मोरँग में असली जोगिन रहती है जो जोग करने के पश्चात् उलट कर देखती भी नहीं। ”)

जट्टा—

‘मोरँग मोरँग सुनिये, मोरँग हम जाएब हे जट्टिन ।

मोरँग से टीकवा ले आएब हे जट्टिन ॥

मोरँग में असली जोगिनयाँ हे जट्टिन ।

ओहू के पेन्हा के तोरा ललचाएब हे जट्टिन ॥’

(हे जट्टी, मोरंग-मोरंग सुनता हूं तो अवश्य जाऊंगा । और वहां से टीका भी लेता आऊंगा । मोरंग की असली जोगिन को टीका पहना कर तुझे ललचाऊंगा ।) यह सुनकर जट्टी रूठ कर नहर चली जाती है । तीसरा अंक समाप्त हो जाता है । चौथे अंक के प्रारंभ में जट्टा, जट्टी के नहर जाने का अभिनय करता है । अपने जत्थे में जट्टी छिप जाती है और जत्था जट्टी के मां-बाप, भाई-भौजाई में परिणत हो जाता है । अब जट्टा अपने श्वसुर से पूछता है -

‘बाबूजी बाबूजी, यही नगरिया, जट्टिन के अवत देखली न ।’

(बाबूजी, मैंने जट्टी को इस नगर में आते देखा है ।)

श्वसुर की ओर से उत्तर मिलता है -

‘नहीं रे नहीं रे यही नगरिया, जट्टिन न आएल रे ।’

(नहीं नहीं, जट्टिन यहां नहीं आई है ।)

जट्टा -

‘बाबूजी बाबूजी यही नगरिया,
जट्टिन के चाउर कूटत देखली न ।
जेंवना बनवइते देखली न,
जेंवना जेंवइते देखली न ॥’

(बाबूजी, मैंने इसी नगर में जट्टी को चावल कूटते देखा है । रसोई बनाते और खाना खाते भी देखा है ।)

‘नहीं रे नहीं रे यही नगरिया,
जट्टिन न आएल रे ।’

(नहीं नहीं, यहां जट्टी नहीं आई है ।)

यह सुनकर जट्टा निराश होकर चला जाता है । इधर जट्टी के माता-पिता जट्टा के भय से जट्टी का वेश परिवर्तन कर देते हैं और प्रचारित करते हैं कि यह मेरा पुत्र “राहूदास ” है । “राहूदास” रूपी जट्टी को एक घाव हो जाता है । उसके माता पिता सिंधी लगाने वाले एक जर्राह की तलाश करते हैं जो उसके घाव का रक्त चूस कर उसे स्वस्थ कर दे । जट्टा तो चुपके-चुपके अन्वेषण कर ही रहा था, वह सुरुन्त जर्राह का वेश बनाकर वहां पहुंचता है । जर्राह को पाकर उसके माता - पिता अनुनय करते हैं -

‘रोहू दास के हाथ के बाला, रोहू दास के हाथ के अंगूठी ।

हमहूँ देबो हो वैद जी, रोहू दास के देह छोड़ाए ।’

(है वैद्यजी, रोहूदास के हाथ का बाला और अंगूठी में तुम्हें पुरस्कार में दूंगा । इसे अच्छा कर दो ।)

जर्राह - ‘रोहू दास के हाथ के बाला, रोहू दास के हाथ के अंगूठी,

हमें नहीं लेबो बाबू रोहू दास के देबो छोड़ाए ।’

(रोहू दास के हाथ का बाला और अंगूठी में नहीं लूंगा । परन्तु इसे यों ही अच्छा कर दूंगा ।)

इसके बाद जर्राह रोहू दास की मरहम-पट्टी में संलग्न होता है । रोहू दास स्वस्थ हो उठता है । अब जर्राह रूपी जट्टा को कुछ भी सन्देह बाकी न रहा कि रोहू

दास ही उसकी जट्टी है । वह पंचों को बुलवाता है और अपने स्वसुर पर जट्टी को छिपा रखने का अभियोग लगाता है । पंचों की डांटडपट पर जट्टी के माता - पिता निरुत्तर हो जाते हैं । जट्टी भी सभास्थल पर बुलाई जाती है । अब जट्टी से उसकी भीजाई कैफियत तलब करती है -

“कहँमा के मारल कहँमा ऐल हे बगुली ?”

(हे बगुली तू कहां से भटकती हुई आई है ?)

जट्टी -

“ससुरा के मारल नैहरा अइली है भउजी ।”

(हे भाभी, ससुराल से भटकती हुई नैहर आई हूं ।)

भीजाई -

“कौन कारण तें ससुरा छोड़ल है बगुली ?”

(है बगुली, किस कारण से तूने ससुराल छोड़ी ।)

जट्टी -

“दूधवा औँटते छाली खइली हे भउजी ।”

(हे भाभी, दूध औँटते समय छाली निकाल कर खा लिया था ।)

भीजाई -

“बगुली हे बगुली, तू तो सुरूअक जीभलाही हे बगुली ।”

(बगुली हे बगुली, तू तो प्रारंभ ही की चटोरी है ।)

इसके बाद सर्वसम्मति से जट्टा जट्टी को ले जाने की तैयारी करता है । अब चौथा अंक समाप्त होकर पांचवा अंक प्रारंभ होता है । दोनों घाट पर आते हैं और जट्टी मांझी को नदी पार करने को कहती है । जट्टी का जत्था यहां पर मांझी और उसके साथियों में परिणत हो जाता है । जट्टी प्रार्थना करती है -

‘टीका देबो एवा रे खेवा, मोतिआ देबो इनाम ।

भइआ मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार ॥’

(मेरे मल्लाह भाई, मुझे नदी के पार उतार दो । मैं टीका खेवाई दूंगी और मोती पुरस्कार में तुम लेना ।)

मांझी -

“न लेबी एवा रे खेवा, न लेबी इनाम ।

बहिनी सुवासिन हे, फिर चल बाबा दरबार ॥ ”

(मैं न खेवा ही लूंगा और न पुरस्कार ही । हे सौभाग्यवती बहन, तू पिता के घर लौट चल ।)

जट्टी -

“झूमका देबो एवा रे खेवा, तरकी देबो इनाम ।

भइआ मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार ॥ ”

(मैं झूमका खेवा में दूंगी और तरकी तुम पुरस्कार में लेना । ऐ मल्लाह भाई, मुझे नदी के पार उतार दो ।)

मांझी -

“न लेबी एवा रे खेवा न लेबी इनाम ।

बहिनी सुवासिन हे, फिर चल बाबा दरबार ॥”

(मैं न खेवा लूंगा और न पुरस्कार ही । हे सौभाग्यवती बहन, तू पिता के घर लौट चल ।)

जट्टी -

“बाजू देबो एवा रे खेवा, कंगना देबो इनाम ।

भइआ मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार ॥”

(बाजू खेवाई और कंगन पुरस्कार में दूंगी । हे मल्लाह भाई, तुम मुझे नदी के पार उतार दो ।)

मांझी - “न लेबौ एवा रे खेवा खेवा, न लेबौ इनाम ।

बहिन, सुवासिन हे, फिर चल बाबा दरबार ॥ ”

(मैं न खेवा लूंगा और न पुरस्कार ही हे सौभाग्यवती बहन, तू पिता के घर लौट चल ।)

जट्टी - “हंसुली देबौ एवा रे खेवा, इनाम चँदरहार ।

भइआ मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार ॥ ”

(मैं हंसुली खेवाई में दूँगी और चन्द्रहार पुरस्कार में । ऐ मल्लाह भाई, मुझे नदी के पार उतार दो ।)

मांझी - “ न लेबौ एवा रे खेवा, न लेबौ इनाम ।

बहिनी दुलारी हे, फिर चल भइआ दरबार ॥ ”

(मैं न खेवा लूंगा और न पुरस्कार ही । हे प्यारी बहन, तू भैया के घर लौट चल ।)

जट्टी - कारा देबौ एवा रे खेवा, बिछुआ देबौ इनाम ।

भइआ मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार । ”

(मैं कारा खेवाई में और बिछुआ पुरस्कार में दूँगी । ऐ मल्लाह भाई, मुझे नदी के पार उतार दो ।)

इस बार मांझी दोनों को पार उतारता है । जट्टी अपने पैरों के कारा और बिछुआ निकाल मल्लाह को पुरस्कार देती है और जट्टा के साथ प्रस्थान करती है । इस प्रकार यह खेल परिशेष होता है ।

भड़ैत

“भड़ैत” अथवा “भड़ैती” भांडों का व्यवसाय है । नकलें करना अथवा स्वांग धारण करना इसका स्वभाव है । लखनऊ, दिल्ली, बनारस, कन्नौज, मनिकापुर आदि स्थानों में भांडों का व्यवसाय प्रचलित है । उत्सव-त्यौहारों के मौके आते ही ये उन्हें हाथ से नहीं जाने देते । मुंडन, छेदन, विवाह आदि अवसरों पर लोगों के घर ये लोग जा पहुँचते हैं । अपने व्यवसाय में जहाँ इन्हें शैथिल्य दिखाई दिया कि “नौटंकी” का सहारा ले लेते हैं । कुछ भांड परिवार साधारण धंधा या व्यापार भी करने लगे हैं । मनि-कापुर के भांड दूर-दूर तक पहुँचते हैं । इनकी कुछ प्रसिद्ध भड़ैती के नाम हैं—चमेलिया लौंडी, अय्याराम कोरी, नाऊ, भटियारिन आदि । मौका देखकर तुरन्त प्रहसन की सृष्टि कर दर्शकों का मन मोह लेना इनकी विशेषता है । इनके लतीफे, लफ्फाजी, चुटकियाँ और वाक्गति सुनने योग्य होती है । स्वांग बनाकर उन्हें और भी रोचक बनाने की कला इन्हें अच्छी तरह याद है । भड़ैत की शैली पूर्णतः हास्य की स्रष्टि करने में सहायक है ।



१. कठपुतली का खेल

कठपुतली के खेलों का सम्बन्ध सुदूर इतिहास की गहराइयों से जुड़ा हुआ है। यह बताना कठिन है कि यह खेल कितना प्राचीन है, अथवा इसका मूल स्रोत क्या है। भारतीय पूर्वकालीन तान्त्रिक अनुष्ठानों, चीन के प्राचीन धार्मिक उत्सवों, इजिप्त के मकबরों और ग्रीस के दार्शनिक विचारों में इसका उल्लेख मिलता है। भारतवर्ष और उसके निकटवर्ती देशों में तो यह खेल अभी भी किन्हीं अंशों में जीवित है। नाटकों में प्रयुक्त 'सूत्रधार' शब्द से कठपुतलियों के सूत्र द्वारा संचालित करने का अवश्य ही सम्बन्ध है। सूत्रधार का प्रयोग इसी कठपुतली के खेल से नाट्यशास्त्र में अपनाया गया, यह निर्विवाद है। इसमें सन्देह नहीं कि कठपुतली का खेल प्राचीन काल से ही लोगों के मनोरंजन का सर्वप्रिय साधन रहा है। भारतवर्ष में आज भी राजस्थान, मालवा, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र और मलाबार प्रान्त के कुछ भागों में यह परम्परा-प्रचलित खेल विद्यमान है। भारतवर्ष के बाहर इसका जो रूप मिलता है, वह निसन्देह भारतवर्ष के अनुरूप ही है। पश्चिम में आधुनिकता का स्पर्श पाकर अब तो थियेट्रों तक में यह खेल सम्मान पाने लगा है, जहाँ लोग प्रवेश पाने के लिये लालायित रहते हैं। कहना न होगा कि कठपुतली का खेल अपनी सर्वसुलभ विशेषताओं और अपनी चमत्कारिक कला एवं प्रभाव के कारण ही भारत, लंका, चीन, जावा, और सुदूर पश्चिम के कुछ देशों में नष्ट न होकर लोक-मनोरंजन का माध्यम बना हुआ है।

कठपुतली का निर्माण

कठपुतली वैसे तो शाब्दिक अर्थ के अनुसार काठ की पुतली है, पर उसके निर्माण में काठ के अतिरिक्त कपड़ा और चमड़ा भी काम में लिया जाता है। कठपुतली लम्बे-चौड़े आकार की गुड़िया की तरह लचकदार पुतली होती है, जो रंगीन वेशभूषा और रूढ़िगत आकार-प्रकार एवं सज्जा के साथ तैयार की जाती है। देहली तथा जयपुर-जोधपुर में कठपुतलियाँ तैयार करने वाले कई पेशेवर लोग रहते हैं। गोल चेहरा, लम्बी मछली की भाँति आँखें, तनी भौंहें और लम्बे कानों तक खिंचे हुए ओठों को देखकर पुतलियों की खास धज पहचानी जा सकती है। उनमें अधिक वजन नहीं होता। कुछ देशों में प्लास्टर के साँचों का प्रयोग किया जाता है जिससे कि आकृति में समानता बनी रहे और काम भी जल्दी हो जावे। जोधपुर की पुतलियों में व्यक्तित्व के अनुरूप लम्बाई-चौड़ाई होती है। प्रत्येक पुतली के पीछे सूत्र बाँधने के लिए हुक होता है। इन पुतलियों को खराद पर ऊपर से रंग, रोगन लगाया जाता है। राजस्थानी पुतलियों का रंग राजस्थानी शैली से मिलता है। दक्षिणी पुतलियों की बनावट दक्षिणात्य ढंग की होती है।



‘कठपुतली’ के साथ गानेवाली महिला



मुगल दरबार

पुतली का खेल करने वाला किसी भी यथोचित स्थान पर एक चारपाई खड़ी करके उसके आगे अपनी पुतलियों का मंच बना लेता है। भारतवर्ष में मुगल-दरबार जैसे ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों और मेहराबों के पीछे पुतलियाँ संचालित की जाती हैं। दर्शक सामने बैठते हैं जिससे उन्हें प्रत्येक गतिविधि दरबार में होती हुई दीखती है। दरबार की छत खुली हुई होती है जहाँ से सूत्रधार पुतलियों को उतार कर अपनी अँगुलियों के कुशल संचालन से सजीवता का आभास उत्पन्न करता है। यह दरबार रंगीन वस्त्रों का बना हुआ होता है, जो कहीं भी रस्सियों से बाँधकर चारपाई के आगे शामियाने की भाँति खड़ा कर लिया जाता है। दरबार की ऊँचाई प्रायः ३ से ४ और लम्बाई ८ से १० फुट तक होती है। और उसी प्रमाण में पुतलियाँ होती हैं। राजाओं की पुतलियाँ बड़ी और दरबारी तथा आम लोगों की पुतलियाँ छोटी होती हैं। साधारण व्यक्ति राजा के सम्मुख आते हुए काँपते हैं। नर्तकी एक विशेष ढंग के साथ दरबार में एक हाथ से घाँघरे का छोर उठाये नृत्य करती हैं, और पास ही ढोलकिया गाते हुए ताल देता है। नृत्य की साधारण गति कथक से बहुत कुछ मिलती है। शूरवीर यंत्रवत् तलवार घुमाते हैं जिससे एक गतिमय वातावरण बन जाता है। जोधपुरी पुतली वाले तो इस कला में अत्यन्त निपुण हैं।

कठपुतली के प्रकार

प्रमुख रूप से कठपुतली के चार विशिष्ट प्रकार उल्लेखनीय हैं:—

१. भारतीय कठपुतली:—जिसे सूत्र द्वारा संचालित किया जाता है। लंका और ब्रह्मा में भी इसी प्रकार की पुतलियों का प्रचार है। इन पुतलियों के अंग एक-दूसरे से जुड़े हुए और लचकदार होते हैं। यह सबसे अधिक प्रचलित प्रकार है।

२. मौजों वाली पुतली:—(ग्लोव डॉल) का प्रचार इंग्लैण्ड में 'पंच और वुडी', फ्रांस में 'युगनाल' एवं जर्मनी में 'केसपर' के नाम से पाया जाता है।

३. सलाई वाली पुतली:—नीचे की ओर से सलाई द्वारा संचालित की जाती है। तुर्किस्तान और चीन में इसका प्रचलन है।

४. चौड़ी पुतली:—इसका भी एक प्रकार है जो सलाई द्वारा संचालित होती है। पर मुख्य पुतली की अपेक्षा उसकी परछाई को ही पर्दे पर दिखाया जाता है। दक्षिण भारत में 'पावाकुथू' के नाम से यह पुतली प्रसिद्ध है।

प्रदर्शन के विषय

उत्तर भारत के गाँवों में 'कठपुतली रो खेल किरालो' की आवाज देकर घूमने-वाले कई व्यक्ति उन दिनों दीख पड़ते हैं जब कि लोग खाली समय में होते हैं। राजस्थानी पुतली (जिसे भारतीय पुतली कहा जा सकता है) अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। मलाबार में इन्हीं पुतलियों के द्वारा रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। मंदिरों के उत्सवों के अवसर (पूरम् या बेला) पर इनके खेल आयोजित होते हैं। कुथूकर, परम्परा से कठपुतली के खेल करने वाले इन्हीं अवसरों पर अपना काम करके वार्षिक आय के रूप में कुछ प्राप्त करते

हैं। खेल दिखाने का स्थान मंदिर अथवा कोई नियोजित खुली जगह 'पर ही 'कुथूमंडपम्' के नाम से बनाया जाता है। उत्तर भारत में रामायण अथवा महा-भारत की कथाओं के बजाय ऐतिहासिक घटनाओं अथवा सामाजिक हास्यों के प्रदर्शन का रिवाज अधिक है।

राजस्थान की कठपुतलियों के पृष्ठ में ऐतिहासिक वृत्तों का अथवा लोक-प्रचलित कथाओं का समावेश है। राजा अमरसिंह राठौर के शौर्य वर्णन और प्रदर्शन में जयपुरी पेशेवर बहुत निपुण हैं। राणा का खेल मुगल दरबार से आरम्भ होता होता है। लाल किले में दरबार भरा है। ढोलक की थाप के साथ गीतकार गीत-कथा को प्रारंभ करता है। अकबर और शाहजहाँ का जमाना है। अमरसिंह दरबार में नहीं है। शाहजहाँ अमरसिंह की गुस्ताखी से खफा होकर तुरन्त दण्ड घोषित करता है। अमरसिंह का राजपूती खून खौल उठता है। वह बादशाह की इस आज्ञा का विरोध करता है। इस पर बादशाह अमरसिंह को तुरंत दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा देता है। अमरसिंह दण्ड की रकम जमा करने के बहाने दरबार में आता है और अपनी तलवार से कई व्यक्तियों को मौत के घाट उतारता हुआ बादशाह पर हमला करता है, पर सौभाग्य से वह भाग जाता है। घटना का लौकिक स्वरूप कुछ इसी प्रकार है।

तथापि यह घटना सन् १६४४ की है, पर समस्त उत्तर भारत में कठपुतली-वालों के द्वारा यह अपने लोकग्राही रूप में अभी भी ताजी है। इधर सूत्रधार अपनी कुशलता से अमरसिंह की विशेषताओं को नाटकीय ढंग से प्रदर्शित करता है, उधर उसकी सहयोगिनी, ढोलक वाली अपनी मारवाड़ी धुनों में घटना को गाती है और ढोलक की तेज थापों और सूत्रधार की सीटी के साथ पुतलियाँ लचककर चपलतापूर्वक खेल में रौनक लाती हैं। छोटे से मुगल दरबार में युद्ध, क्रोध और साहस के कार्यों का दृश्य देखने योग्य होता है।

मधुकर के शब्दों में सूत्रधार को कलाकार, कारीगर, संगीतज्ञ, भाट और प्रमुख रूप से किस्सागो होना पड़ता है, तभी वह कुशलतापूर्वक अपनी कठपुतलियों द्वारा प्रभावित कर सकता है।

बालकों के लिए इन पुतलियों में ऐसी सजीवता है, जो परियों के लोक से कम नहीं। राजपूताने के साहस और मुगल दरबार का वातावरण कल्पना और पुतलियों के प्रत्यक्ष से उभर आता है।

संरक्षण की आवश्यकता

पुतलियों का अपना संसार है। इस प्राचीन लोक-कला का संरक्षण जरूरी है। कठपुतलियों का खेल करने वालों की अपनी खास विशेषताएँ हैं, जिन्हें वे परम्परा से सहजे हुए रहते हैं। कठपुतलियों का एक साथ जमाव, वातावरण में गति पैदा करना और ध्वनि के अनुरूप चपलता का एक साथ निर्वाह करना कुशल एवं पेशेवर कलाकार के लिये ही संभव है। भारतवर्ष (राजस्थान में) यह कला पूरे जोश के साथ विकसित हुई। जोधपुर के निकट वर्षों से इस कला को धंधे के रूप में पोषित किये कई कुटुम्ब बसे हुए हैं। यही लोग समय-समय पर दूर-दूर तक

यात्रा करते हैं । राजपूत राजाओं और जागीरदारों ने अपनी समृद्धि के युगों में इन्हें खूब आश्रय दिया । गुजरात, काठियावाड़ और मालवा में भी उन्हें यथोचित संरक्षण मिलता था । आज भी लोक-मनोरंजन के साधनों के पुनरुद्धार के इस काल में कठपुतली के खेल को पुनः प्रतिष्ठा प्रदान करना राष्ट्र के लिये गौरव का विषय होगा । इस दृष्टि से भारत के सूचना और प्रसार विभाग ने कुँवरसिंह पर एक खेल तैयार करवाया है, 'जो कुँवरसिंह की टेक' के नाम से प्रसिद्ध है । यह प्रशंसनीय प्रयोग है इसी माध्यम से और भी घटनाएँ प्रस्तुत करना अपेक्षित है ।



२. छाया-नाट्य

छाया का अपना अनोखा सौंदर्य है। उसमें रहस्यात्मकता और आश्चर्य-भावना का स्पर्श निहित है। कल्पना और सत्य दोनों वहाँ एक साथ आते हैं।

छाया-नाट्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारत, चीन और दक्षिणपूर्वी एशिया में यह कला कभी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। रूस में बाल-शिक्षण के लिए प्रयुक्त 'टॉय थियेटर' के समानान्तर ही इस माध्यम का विकास हुआ। भारतवर्ष में छाया-नाट्य लोगों के मनोरंजन का साधन बनकर देशव्यापी महत्त्व की वस्तु तो बना ही किन्तु उसने निकटवर्ती देशों को भी प्रभावित किया है। मलाबार और आन्ध्र के गाँवों में इसके खेल आज भी उत्सुकता से देखे जाते हैं। मलाबार में इसे 'पावाकुयू' के नाम से पुकारते हैं। तामिलनाडु में भी इसका पर्याप्त प्रचार है।

छाया-नाट्य लोगों का अपना मनोरंजन है। आन्ध्र, मलाबार और तामिलनाडु में इसका खेल करने वाले दल प्रायः गाँव-गाँव घूमा करते हैं। पौराणिक आख्यानों के आधार पर कथाओं का सिलसिला बैठा कर नाटक प्रस्तुत करना इन दलों के लिए सहज विषय है। तामिलनाडु में कम्बन रामायण से पाठ किया जाता है। अतः छाया-नाट्य के विषय देवता, राक्षस और पुराणों के प्रसिद्ध चरित्र हैं।

छाया-नाट्य आरम्भ करने के पूर्व बाँस की दो बल्लियों पर एक सफेद कपड़ा तान दिया जाता है। यह आयोजन प्रायः गाँव के बाहर किसी जलाशय या मन्दिर के निकट अथवा नारिकेल या ताड़ वृक्ष की पृष्ठभूमि लेकर किया जाता है। पट के पृष्ठ में कुछ दूरी पर दीपक प्रज्वलित किये जाते हैं। नाट्य का आरम्भ करने के पूर्व दर्शकों की ओर अन्धकार कर दिया जाता है। पट पर दीपकों के प्रकाश के सहारे चमड़े या काठ की बनी हुई आतियों की छायाएँ संचालित की जाती हैं। ज्यों ही छाया-नाट्य शुरू होता है पट के निकट बैठे उद्घोषकगण संवाद आरम्भ कर देते हैं। आकृतियाँ संचालित करने वाला सूत्रधार पर्दे के पीछे इस तरह बैठता है कि उसकी छाया पट पर नहीं आने पाती। आकृतियों को संचालित करते समय वह भी कभी-कभी पृष्ठ से ही संवाद बोलता है। दल के मुख्य गायक दर्शकों के सामने पट के आगे बैठे ऊँची आवाज में कथा-पाठ करते हैं। इस तरह छाया-नाट्य धूमधाम से आरम्भ होते हैं।

छाया-नाट्य की कला ने बर्मा, मलाबार, स्याम और इन्डोनेशिया के अनेक आधुनिक नृत्यों को प्रभावित किया है। उदयशंकर इस माध्यम से रामलीला को अधुनातन रूप में प्रस्तुत कर प्रयोग को सफल बनाया है। जावा और बाली द्वीपों के नृत्यों पर प्रभाव का आरोप अधिक स्पष्ट है। जावा के छाया-नाट्यों की अधिकांश कथाएँ भारतीय हैं। इसे वहाँ 'वाजंग' या 'वायंग' कहते हैं। राम और अर्जुन वहाँ के मुख्य एवं प्रिय पात्र हैं। चीन में छाया-नाट्यों का शिल्प अधिक अच्छी तरह विकसित हुआ है। चीन को इसे दूर तक ले जाने का

श्रेय भी प्राप्त है। वहाँ के लोगों का यह प्रिय मनोरंजन है। लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व से एक अमरिकी स्त्री पालिन बेन्टन इस माध्यम का प्रयोग अमेरिका में करती आ रही है। उसने अनेक प्रयोग किये हैं। चीन से वह आकृतियाँ के प्रदर्शन की यह कला सन् १९२१ में लेकर आयी थी। उसकी आकृतियाँ और प्रदर्शन का ढंग भारतीय और चीनी ढंग का है। अतः छायानाट्य का आज अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है।

इतना होते हुए भी छायानाट्य पूर्णतया लोकधर्मी है। ग्रामीण जीवन में उनका प्रभाव अटूट है। लोगों के इतने निकट होने के कारण यह शैली किसी भी परिष्कृत बाह्य साधन के प्रभाव से वंचित है। यह अधिक संभव है कि लोगों की भावनाओं से उसका सम्बन्ध होने के कारण छायानाट्य सम्बन्धी प्रयोग सफल होंगे।



३. रास

रासलीला का रंगमंच अत्यन्त साधारण और सरल होता है। ऊँचे तख्त या चबूतरे पर चादर बिछा दी जाती है। उसी पर अभिनेता आ जाते हैं। जनता चारों ओर घेर कर बैठ जाती है। एक ओर स्त्री और दूसरी ओर पुरुष। राधा, कृष्ण और सखियों के पदार्पण करते ही जनता उठकर उनका अभिनन्दन करती है। लोक चरण-स्पर्श को दौड़ पड़ते हैं। राधा और कृष्ण काठ की बनी गद्देदार कुर्सी पर विराजमान होते हैं और नान्दी पाठ आरम्भ हो जाता है। जिसमें जयदेव के गीत-गोविन्द, वल्लभाचार्य और हितहरिवंश आदि के स्तोत्रों से वन्दना होती है। इसके बाद एक सखी कृष्ण से कहती है—‘रास को समय हूँ गयी अब आप पधारें।’ कृष्ण खड़े होकर राधिका जी से निवेदन करते हैं:—

‘राधे, रूप उजागरि श्याम करियौ कृपा की कोर।’ आगे कृष्ण फिर निवेदन करते हैं :—

रसिकजन रजवानी महारानी कृपा करि हेरो ।

मन जोहत राधे तेरो...

चलो चलो सब बन की ओर

करिए कृपा की कोर,

राधा भानुकुमारी ।

राधा— नन्दकिशोर मोहन कुञ्ज बिहारी ।

कृष्ण— चलिये सघन वन की ओर श्री मम प्राण पियारी ।

बोलत चातक, मोर फूली अति फुलवारी ॥

राधा— मैं न चलूँ वन की ओर तू नटखट गिरधारी ।

(दर्शक—कृष्ण भगवान की जय)

तुम प्रीतम चित चोर उलटी रीत तुम्हारी ।

कृष्ण— हा हा, काह कहावत चोर, तुम चित चोर निहारी ।

निरखौ कृपा की कोर तुम राधा प्यारी ।

ब्रज बनितन सिरमौर, तुम भोली भाली ।

इसके बाद कभी राधा-कृष्ण का द्वन्द्व नृत्य होता या फिर सामूहिक नृत्य होता, जिसमें राधा, कृष्ण, गोपियाँ और गोप शामिल होते हैं। इस प्रकार नृत्य गायन और कथोपकथन के साथ रासलीला चलती रहती है। अन्त में कृष्ण वृन्दावन की महिमा का वर्णन करते हैं:—

राज-पाट को नाहिं करैया, ओढ़ि कमरिया गाय चरैया ।

रथ विमान पर नाहिं चढ़ैया, गड़ पीठ पर नाहिं उड़ैया ।

पावन पावन नंगे डोलो, ब्रज रज सम कोउ नाहिं ।

जो रस बरस रह्यो ब्रज माही, या को बरसन ओ कछु नाहिं ।

—साहित्यकार, अगस्त १९५६ से साबर उद्धृत ।

४. राजा हरिश्चन्द्र : माच का अंश

(रंगत जोबना)

अजी सत का राजा सत की रानी सत की जीमों आसमान में तानी ।
अजी सत का पवन सत का पानी सत की राजा बोलते बानी ॥१॥ अजी सत का
सूरज सत का चन्दा सत का न्याव देखली छानी । सत के दंत बत्तीस बनै के सत
की जबान जात है सारी । अजी सत के काज धड़ सीस बनै के सत के नाम को
जगत उभारी ॥

(बोल राजा हरिश्चन्द्र को)

—०—

(रंगत छोटी)

सतवादी हरिश्चन्द्र आये राजा सतवादी हरिश्चन्द्र ॥टेक॥ विक्र टुंड गणपत
ने सुमरा मिट जाय मन को सन्द ॥ सरसत माता तुम्हें मनाता बांद ब्रह्म को छंद ॥
तारालोचनी नार हमारी रहे मन में आनन्द ॥ सुन्दर सूरत बढ़ी है सौभा नजर
करी सब बन्द ॥२॥ पुरी अयोध्या में राज हमारा तपता सूरज चन्द । सतयुग के
सतवादी राजा सुन सुत मूरख अंद ॥३॥ नाम लिया से निरमल होवे कट जावे
सब फंद । इन्द्र लोक में मान जिन्होंका ऋषी हुए सब मंद ॥४॥

(बोल तारालोचनी को)

—०—

(रंगत दोहरी)

हूँ तो म्हारे तारालोचनी नार । सत को करां सभी अंगार ॥ टेक ॥ पति
हमारा सतवादी हरिश्चन्द्र सत की बांदी कार । सत धरम की नाव बनाके उतरांगा
सम्हर पार ॥ १ ॥ झूठ बोलै तो सोई क्षत्र मारे सो नर नरक निहार । सतयुग में सतवादी
राजा हुमा मुलक में झार ॥ २ ॥ भूक को भोजन मिल जावे दुखिया खड़े हजार ।
तन मन धन सोई हम देश्याँ हेड़ो सिर को भार ॥ ३ ॥ पति नहीं परमेस्वर म्हारा
दिल में नेचो धार । नित उठ सेवा करां बंदगी रखो तुम्हारी लार ॥ ४ ॥

(बोल दूत को)

—०—

आयारे धरमराज का दूत देखने आयारे ॥ टेक ॥ हुकम करने सतवादी
राजा, किन क्यां जावां । किन कूँ लावां ॥ १ ॥ आयारे ॥ धरम पत्र में नाम लिखावां
धरमी कूँ बैकुंठ पीहचावां ॥ लख चौरासी जिन्हे भुगतावां ॥ आयारे ॥ ३ ॥ ऊपर
से गुरंज की मार लगावां । धर मुंडी पानी जो तावां । आयारे ॥ ४ ॥ जहां सत होवे
वहां हम जावां । जाकर हुकम आज उठावां ॥ आयारे धरमराज का ॥ ५ ॥

(बोल तारालोचनी को)

—१—

(रंगत इकहरी)

अजी या चीज पराई दो दिन बिलसी ने पाछी दई दीजो ॥ टेक ॥ कर करार बिलस लो बंदे फिर नहीं इस पर जोरा । जगा करो भाइती खाली देखो ठिकाना और ॥ १ ॥ कर करार ब्रह्मा शिव आये आये श्री भगवान । त्रेता जुग में राम भया है, द्वापर में भया कान्हू ॥ २ ॥ हुकम दिया हाकिम नहीं माने भोज दिया यमदूत । पकड़ हाथ आगे धर लीना कौन पिता कौन पूत ॥ ३ ॥ चंदा जायगा सूरज जायगा, जाय पवन और पानी । एक चीज वो नहीं जावेगी कहे बालमुकुन्द ग्यानी ॥ ४ ॥

(बोल पद्मनागनी को)

—०—

(रंगत छोटी)

पुरी अयोध्या बाला म्हाजें कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बतावो ॥ टेक ॥ कच्चा सूत कूम्हार का सो क्या कच्चा सूत कतावो । निरमल नीर भरा सागर से हीरा बाजी म्हाजें जितावो । कोई राजा हरिश्चन्द्र बतावो ॥ १ ॥ धरमराज का दूत देखलो काला गोरा गुन जो गावो । नित उठ सेवा करां बंदगी दस दस केतो हुकम उठावो ॥ २ ॥ कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बतावो ॥ पद्मनागनी अरजे करे हैं उसको जा समझावो । परसुवारथ के काज आज तुम दुश्मन के घर आगे सिधावो ॥ ३ ॥ कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बतावो ॥

—०—

(रंगत झेला में)

अजी राजा में तो आई आपके पास प्यासी दर्शन की ॥ टेक ॥ तुम्हारा तीन लोक में मान मरजी परसन की । म्हारे उमग्यो नैत दयोब बद लिया वरसन की ॥ १ ॥ दरवाजे आ कबकी खड़ी हूं सुनो जी हमारी बात । क्यों माया में लिपट रया हो भूलो ना हात की हात । पुंगी बजा सब मंत्र सुना दिया नव कुलीसु बांदी गाय । कल्प राग कालो बस कीनी जा बैठो टिपारी माय ॥ २ ॥ हम राजा उनसे उठ बोल्या क्यों छोड़ो जी परवार । पद्मनागनी पल पल रोवे चल्या गया बादी गिरलार ॥ ३ ॥ राजा में तो आई आपके पास ॥

(बोल पद्मनागिन को)

—०—

(रंगत इकेरी)

अजी बोले पद्म नागनी बा । गिण बासक मेरो ले गयो । देव लोक पाताल में सो राजा सत्य बखाने भोत । जा कारण हम आबिया सो कई दिक्कू जल रही जोत ॥ १ ॥ अजी बोले० ॥

(बोल राजा हरिचंद)

—०—

(रंगत इकेरी)

अरे म्हाारा महल अगाड़ी सुन्दर कौन उबी छूी बाद के ॥ टेक ॥ बोल बोल

सुन्दर कुछ बोलो बोल्या से सब होय । बिना किये दूसरे के दिल की क्या जानेगा कोय ।
अरे म्हारा महल ० ॥

(बोल नागनी को)

—०—

जोड़ी मिल बिछड़ा पड़या सो राजा तुम्हीं मिलावन हार । उठ राजा क्यों देर
लगाई नवकुलीमची हलकार ॥ अजी बोल ॥

(बोल राजा को)

—०—

बड़ो बोल इन्द्र को छाजे मैं हूं धूल समान । भर निन्द्रा में चमक उठाहां दुःख
सुख सुन लां कान ॥

(बोल नागनी को)

—०—

हात जोड़ अरजी करूं सो राजा झठ जा नाग छुड़ाय । इतनो पुण्य पल्ल तम
बांदी म्हाने चूंदड़ ओड़ाव ॥ २ ॥

(बोल राजा को)

—०—

धन मांगों तो धन हम देवां तन मांगों तो तैयार । देश छोड़ परदेश फिरांगा
सत्य कहूं ललकार ॥ अरे म्हारा महल अगाड़ी ॥ ३ ॥

(बोल नागनी को)

—०—

ठन्डी छायें कदम के नीचे पियु सूता था सुख सेज । वादी गिर बाशक कुं लैं गयो
छिप गयो सूरज तेज ॥ ४ ॥

(बोल राजा को)

—०—

शेष नाग पाताल को सो जा को कन्या सरको रूप । सच कह दो आये हो
कहां से हम सतवादी पूत ॥ ५ ॥



माच की प्रसुल धुन

बोल : पियुजी हमारा छैला

पियुजी गयारे परदेस

अरे जाजम काँ की बिछावाँ जी...

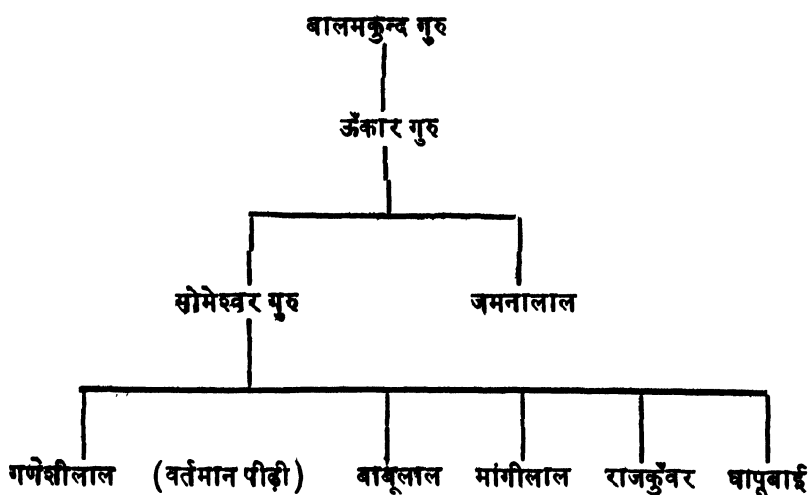
स्वर-तालिका

नि नि नि नि नि सां सां सां ३ सां नी सां सां
 पि यु ऽ जी ऽ ह मा ऽ रा छै ऽ ला ऽ
 ध नी ध ऽ प म ग ग रे सा ग म ग म
 पि यु ऽ जी ह मा ऽ रा ऽ पि यु जी ग
 रे रे रे रे ग रे ग म प प प प
 या ऽ ऽ रे ऽ ऽ प र दे ऽ ऽ स
 सां ग रे सा रे सा नी ध नी ध प ध प
 अ रे ऽ जा ऽ ऽ ज मं ऽ ऽ कां ऽ ऽ
 प ध म प म ग ग म ग रे सा रे
 ३ ऽ जी ऽ ऽ बि छा वां ऽ ऽ ऽ ऽ
 सा सा सा सा
 जा ऽ ऽ ऽ

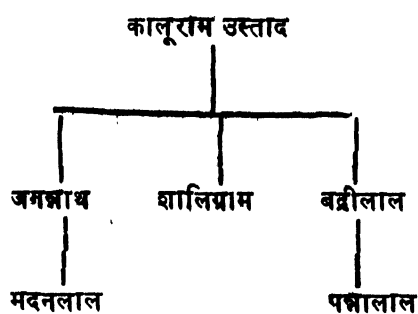


१. बालमुकुन्द गुरु और कालूराम उस्ताद की वंश-तालिका

(१)



(२)



६. चन्द्रसखी रचित गीति-नाट्य

(पृष्ठभूमि)

गढ़ मथुरा सँ चली गूजरी,
बिंदराबन में आई, मेरा राम ।
आगे ए साँवरियो मारग,
रोक लियो, हरे राम ॥

(कृष्ण)

खड़ी रे गूजरी, खड़ी रे गुवालण,
खड़ी रे ए चँदरावल नार ।
महिड़ाँ री एक दहिड़ाँ रो,
डाण ज दे ज्याबो, हरे राम ॥

(गोपी)

डाण ज लाडू डाण ज पेड़ा,
डाण ज गिरी चुँहारी, मेरा नाम ।
महिड़ाँ रो एक दहिड़ाँ रो,
डाण ज ना देवाँ, हरे राम ॥

(कृष्ण)

डाण ज लाडू डाण ज पेड़ा
डाण ज गिरी चुँहारी, मेरा राम
महिड़ाँ रो एक दहिड़ाँ रो,
डाण ज ना छोड़ाँ, हरे राम ॥

(भावात्मक नृत्य)

मटकी भी फोड़ी कान्हो महिड़ो म्हंडायो,
माखन भोग लगायो, मेरा राम
ईडुंणी ए क ईडुंणी जल में,
बुहाय दीनी, हरे राम ॥
हार हबक लियो चीर झबक लियो,
मोतियन की लड़ तोड़ी, मेरा राम ।
गोरे ए पूँचे पर साँवरो,
नख दीन्यो, हरे राम ॥

(दृश्य परिवर्तन) .

बिंदरावन सैं चाल गूजरी,
गढ़ गोकल में आई, मेरा राम ।
ल्याई रे नँदजी की पोली,
ओलमा, हरे राम ॥

(गोपी)

सुण सुण ए म्हारी मात जसोदा,
सुण नँदजी की राणी, मेरा राम ।
ऐसो ए उदमाद्यो कान्हो,
के जायो, हरे राम ॥

(यशोदा)

काँईं थारो तोड़यो काँईं थारो फोड़यो,
काँईं थारो करयो उजाड़ो, मेरा राम ।
तू क्यूँ ए गूजर की दे छैं,
ओलमा हरे राम ॥

(गोपी)

मटकी भी फोड़ी कान्हो महिड़ो म्हँडायो,
माखन भोग लगायो, मेरा राम ।
ईडुंणी ए क ईडुंणी जल में,
बुहाय दीनी, हरे राम ॥
गोरै ए पूँच पर साँवरो,
नख दीन्यो, हरे राम ॥

(यशोदा)

घर जा ए गूजरी घर जा गुवालण,
घर जा ए चँदरावल नार ।
आवे ए कानूड़ो बूँगी,
ओलमो, हरे राम ॥

(दृश्य परिवर्तन)

साँझ पड़ी दिन आथण लाग्यो,
कान्ह, गऊ ले आयो, मेरा राम ॥

(यशोदा)

धार्ई रे कानूड़ा तेरा,
ओलमा, हरे राम ।

घर तेरे माखन घर तेरे महिड़ो,
 घर तेरे धिरत घणैरो, मेरा लाल ।
 ऐसो रे पितलायो माखन,
 क्यूँ खायो, हरे राम ॥
 घर तेरे राधा घर तेरे रुकमण,
 घर तेरे सीता सी नार, मेरा लाल ।
 ऐसी रे मसतानी गूजरी,
 क्यूँ छेड़ी हरे राम ॥

(कृष्ण)

बिन्दरावन की कुंज गलिन में,
 बैठ्यो धेनु चरावूँ, मोरा माय ।
 बैठी ए गायीं के ठोकर,
 क्यूँ मारी, हरे राम ॥

(कवि वचन)

चन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छबि,
 हरख निरख गुण गावूँ मेरा राम ।
 झूठी ए गुजरड़ी ल्याई,
 ओलमा, हरे राम ॥



७. प्रकाशित ख्याल

श्री अग्ररचंद नाहटा द्वारा प्रस्तुत सूची (लोककला, भाग १, अंक दो, सन् १९५४ से उद्धृत)

(क) अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में संग्रहीत :-

१. अमरसिंघजी को बड़ो ख्याल, मोतीलाल, गंगाराम प्रतापजी लखारा, जालना ।
२. अमरसिंघ हाडी रानी को ख्याल, उजीर तेली, वंक्टेश्वर प्रेस, बंबई । ३. कथे चूने का ख्याल, गणेश वैद्य, लाला वंशीधर दूडानी, आगरा । ४. केसर गुलाब का ख्याल, पंसारीलाल नंदराम, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । ५. (राजा) केसरसिंह का ख्याल (फूलांदे केसरसिंह को ख्याल) आदर्श हिन्दू पुस्तकालय, मथुरा । ६. राजा केसरसिंह का ख्याल, पं० वंशीधर शर्मा, किशनगढ़ । ७. खीमजी आभलदे का बड़ा ख्याल, सदासुख भगवानदास नीमच निवासी, जमुना प्रिंटिंग वर्क्स, मथुरा । ८. खीमजी आभलदे का ख्याल, श्याम काशी प्रेस, मथुरा । ९. खीमजी आभलदे का ख्याल, नानूलाल वंशीधर शर्मा, किशनगढ़ । १०. खीमजी आभल को ख्याल, ज्ञानसागर प्रेस, बंबई । ११. गोपीचंद का ख्याल, मोतीलाल, (शाके १७६२) हरिलक्ष्मण महापुसकर, बंबई । १२. गोपीचंद राजा का ख्याल, आदर्श हिन्दू पुस्तकालय, मथुरा । १३. गोपीचंद राजा का ख्याल, हिन्दी पुस्तकालय मथुरा । १४. चकवै बैण राजा को ख्याल, नानूराम राणा, ज्ञानसागर प्रेस बंबई । १५. चंदमलियागिर को ख्याल, कवि लच्छीराम कुचामणी, आदर्श हिन्दू पुस्तकालय, मथुरा । १६. छैला पनिहारी का ख्याल, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । १७. जगदेव कंकाली को ख्याल, नानूराम चिड़ावै वाला, ज्ञानसागर प्रेस, बंबई । १८. जगदेश कंकाली को ख्याल, नानूराम चिड़ावै वाला, संतुरामजी सुन्दरमल, बंबई । १९. जगदेश कंकाली को ख्याल, नानूराम चिड़ावै वाला, श्याम काशी प्रेस, मथुरा । १९. भर्तृहरि का ख्याल, तेज कवि बौरा किसनलाल, जैसलमेर । २०. जोगी भर्तृहरि का ख्याल, तेज कवि, बौरा किसनलाल, जैसलमेर । २१. जोगी भर्तृहरि का ख्याल, तेज कवि, किशोरीलाल तखतमल, जैसलमेर । २२. डूंगरसिंह का ख्याल, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । २३. ढोला-मखुवन का ख्याल, सरनूला, हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा । २४. दो गोी का बालमा ख्याल, पंसारीलाल नंदराम, नीमच, हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा । २५. ध्रुवजी को ख्याल, डालूराम ज्ञानसागर प्रेस, मुंबई । २६. नणद भोजई का ख्याल, नाथू, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । २७. नलराजा को ख्याल, नानूलाल राणो, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । २८. नागजी मारवाड़ी ख्याल, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । ३०. रानी निहालदे और कुंवर सुलतान का ख्याल, पं० किशनलाल, बाबू रामचंद, नीमच । ३१. रानी निहालदे और कुंवर सुलतान का ख्याल, पं० किशनलाल, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । ३२. खशम को खेल, तेज कवि, चन्तामणदास जंदाणी, जैसलमेर । ३३. पचफूला रानी का ख्याल या ख्याल आसा डाबी को, भगवानदास, हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा । ३४. पन्ना वीरमदे को ख्याल, पंसारीलाल नंदराम नीमच, ईश्वरलाल

बुकसेलर, जयपुर । ३५. पूरण भगत का ख्याल । ३६. पूरणभगत को ख्याल, हरनंद राम, ईश्वरलाल बुकसेलर जयपुर । ३७. पूरणमल का मारवाड़ी खेल, पं० वंशीधर शर्मा, प्र० वंशीधर शर्मा, डीडवाना । ३८. प्रणवीर राठोड़ पाबूजी राठोड़ मारवाड़ी खेल, पं० वंशीधर शर्मा, पं० वंशीधर शर्मा, डीडवाना । ३९. बूढ़ा बनडा का ख्याल, जगन्नाथ उपाध्याय, पं० धीसूलालात्मज जगन्नाथ उपाध्याय कडवका, चौक अजमेर । ४०. बूढ़ा बालम का ख्याल, नंदराम, ईश्वरलाल, बुकसेलर, जयपुर । ४१. पणियारे लखेरे का ख्याल, पं० सारी लाल नंदराम, कन्हैयालाल स्टाम प्रेस, आगरा । ४२. मालदे हाडी रानी को ख्याल, वजीर तेली, ज्ञानसागर प्रेस, बंबई । ४३. मूमल महेंदरे का खेल, तेज कवि (शाकद्वीपी ब्राह्मण) जगन्नाथ हुकुमचंद कल्ला, जैसलमेर । ४४. मोरध्वज कको ख्याल, प्रेमसुख, ज्ञानसागर प्रेस, बंबई । ४५. मोरध्वज को ख्याल बड़ा, पं० किशनलाल नसीराबाद, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । ४६. राजा रिसालू को ख्याल, ज्ञालीराम, ज्ञानसागर प्रेस, बंबई । ४७. राजा रिसालू नोपदे का ख्याल, ज्ञालीराम, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । ४८. राजा रिसालू नोपदे को ख्याल, ज्ञालीराम, हिन्दी पुस्तकालय मथुरा । ४९. लैला मजनू पाक मुहब्बत का ख्याल, नानूलाल, श्याम काशी प्रेस मथुरा । ५०. शीलो सतर्वती का ख्याल, पं० किशनलाल, मुल्तानमल प्रिंटिंग प्रेस, ५१. सत्यनारायण व्रत कथा मारवाड़ी खेल, पं० वंशीधर, प्र० वंशीधर डीडवाना । ५२. संभापर्व अर्थात् चीरहरण ख्याल, नानूलाल राणा, ५३. सील कंवर सुदबुद सालंग्या का ख्याल, हरीकरण व्दिज, हरिप्रसाद भागीरथ बंबई । ५४. सुलतान मरवण भात का ख्याल, जीरखी तेली, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । ५५. सूरज कुंवर का ख्याल, फतहचंद ईश्वरलाल बुकसेलर जयपुर । ५६. (सत्यवादी राजा) हरिश्चंद का बड़ा ख्याल, पं० किशनलाल, मुल्तानमल प्रिंटिंग प्रेस, नीमच । ५७. (सत्यवादी राजा) हरिश्चंद का बड़ा ख्याल, पं० किशनलाल, श्याम काशी प्रेस मथुरा ५८. हीर रांझे का ख्याल, नानूलाल, ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर । ५९. हीर रांझा का ख्याल, नानूलाल राणा, राम प्रेस, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता ।

(ख) खत्री भीकमचंद, जोधपुर द्वारा प्रकाशित ख्यालों की सूची:—

१. अमरथल भरथरी ख्याल । २. अमरसिंह राठोड़ ख्याल । ३. अमलदार की ख्याल । ४. आसाडावी को ख्याल । ५. कलयुग को ख्याल । ६. काकी जेठूता की ख्याल । ७. केसरसिंह को ख्याल । ८. खीमजी आभलदे को ख्याल । ९. गोगा चौहान को ख्याल । १०. गोपीचंद को ख्याल । ११. चंद मलयागिरि को ख्याल । १२. चंद्रसेन की ख्याल । १३. छोटा कंथ की ख्याल । १४. छैला दिलजान की ख्याल । १५. छैला पनिहारी को ख्याल । १६. जगदेव कंकाली को ख्याल । १७. जोहरी का ख्याल । १८. डूंगरसिंह को ख्याल । १९. ढोलामारू को ख्याल । २०. देवर भोजाई को ख्याल । २१. दो गोरी के बालम को ख्याल । २२. ध्रुव भक्त को ख्याल । २३. नणद भोजाई को ख्याल । २४. नरसी महेता को ख्याल । २५. नागजी नागवंती को ख्याल । २६. निहालदे सुलतान को ख्याल । २७. निहालदे मारवाड़ी की ख्याल । २८. नोटंकी मारवाड़ी को ख्याल । २९. पन्ना वीरमदे को ख्याल । ३०. पारस पीतांबर को ख्याल । ३१. पृथ्वीराज को ख्याल । ३२. प्रह्लाद चरित्र को ख्याल । ३३. बनजारा को ख्याल । ३४. बनलीला को ख्याल । ३५. बूढ़ा बालम को ख्याल

३६. भूलिया भटियारण को ख्याल । ३७. (राजा) भरथरी को ख्याल । ३८. मीरा मंगल को ख्याल । ३९. रतन कुंवर को ख्याल । ४०. रामलीला को ख्याल । ४१. (राव) रिड़मल को ख्याल । ४२. (राजा) रिसालू को ख्याल । ४३. रिसालू बालकदे को ख्याल । ४४. विक्रमादित्य को ख्याल । ४५. विजयसिंह को ख्याल । ४६. श्रवण कुमार को ख्याल । ४७. सुदबुद सांर्विलगा को ख्याल । ४८. सूरजकुंवर को ख्याल । ४९. सेठ सेठानी को ख्याल । ५०. सोलह बणजारे को ख्याल । ५१. सोरठ बीझा को ख्याल । ५२. राजा हरिश्चंद्र को ख्याल । ५३. हीर रांझा को ख्याल ।

(ग) पंडित वंशीधर डीडवाना निवासी रचित और पं० श्रीधर शिवलाल, ज्ञानसागर छापाखाना, किशनगढ़ द्वारा प्रकाशित (हमारी संग्रह सूची के अतिरिक्त)—

१. अमरसिंह को ख्याल । २. अमरसिंह हाड़ी रानी को ख्याल । ३. गोपीचंद को ख्याल । ४. गोपीचंद को ख्याल (शेखावाटी रंगत) ५. चंद मलियागिरि को ख्याल । ६. जगदेव कंकाली को ख्याल । ७. तेजाजी को ख्याल (अंबालाल) ८. दयाराम धाड़वी को ख्याल । देवनारायण चरित्र को ख्याल । १०. नरसी महता को ख्याल । ११. निहालदे सुलतान को ख्याल । १२. पच फूलारानी को ख्याल । १३. प्रणवीर राठोड़ पाबूजी को ख्याल । १४. बगड़ावत भारत का खेल । १५. राठोड़ पाबूजी का खेल । १६. रामदेवजी का खेल । १७. रिसालूनोपदे का खेल । १८. रुकमणी मंगल का खेल । १९. रुकमणी स्वयंवर का खेल । २०. रुकमणी हरण का खेल । २१. वीरवर जाट तेजाजी का खेल । २२. शाहजादे का बड़ा ख्याल (झाबरमल) । २३. सती हेमकुंवर का ख्याल । २४. हेमकुंवर चरित्र का ख्याल ।

(घ) खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई द्वारा प्रकाशित (हमारे संग्रह के अतिरिक्त)—

१. अष्टपदी को ख्याल । २. आशक अलबेली का ख्याल । ३. आसाडाबी को ख्याल । ४. इंद्र सभा का बड़ा ख्याल । ५. इश्कबाज पनवाड़िन का ख्याल । ६. उखा अनिरुद्ध का ख्याल । ७. खिवा आभल का ख्याल । ८. गुलबहार लावणी का ख्याल । ९. गोपीचंद का ख्याल (मोतीराम) १०. गोपीचंद का ख्याल (प्रह्लाद राम) । ११. चकवा बैण का ख्याल । १२. चन्द्रभानु का ख्याल । १३. चन्द्रशेखर का ख्याल । १४. छैलकुंवर चांद कुर्वर का ख्याल । १५. छैला दिलजान का ख्याल । १६. छैला पतिहारिन का ख्याल । १७. छोटे कंथ का ख्याल । १८. जगदेव कंकाल का ख्याल । १९. जैमल फत्ता का ख्याल । २०. जौहर का ख्याल । २१. डूंगजी जवारजी का ख्याल । २२. ढोला मरवण का ख्याल । २३. ढोला सुलतान निहालदे का ख्याल । २४. दयाराम धाड़वी का ख्याल । २५. दूला धाड़वी का ख्याल । २६. ध्रुवजी का ख्याल । २७. पन्ना शाहजादे का ख्याल । २८. पन्ना वीरमदे का ख्याल । २९. पात-शाह शाहजादी का ख्याल । ३०. पूरणमल भगत का बड़ा ख्याल । ३१. पृथ्वीराज का ख्याल । ३२. पंडित सेठानी का ख्याल । ३३. फूलकुंवर फूलवंती का ख्याल ।

३४. बिनजारे का ख्याल । ३५. बूढ़े बालम का ख्याल । ३६. मालदे हाड़ी रानी का ख्याल । ३७. मिरजा मोहनी का ख्याल । ३८. रतनसिंह चंदावल का ख्याल । ३९. राजा चरित्र अर्थात् बीकालाड़ी का ख्याल । ४०. राजा चित्र मुकुट का ख्याल । ४१. राजा नल का ख्याल । ४२. राजा रिसालू का ख्याल । ४३. राजा रिसालू नोपदे का ख्याल । ४४. रूप वसंत का ख्याल ।

(ङ) जयदेशव सुन्दरमल, प्राचीन पुस्तकालय, गोपालवाड़ी बंबई द्वारा प्रकाशित (हमारे संग्रह के अतिरिक्त):—

१. अमरसिंह हाड़ी राणी को ख्याल । २. इंद्र कुंवर को ख्याल । ३. इंद्र-सभा को ख्याल । ४. कलकत्ते की खानगी को ख्याल । ५. कबाठ राजा को ख्याल । ६. खीवे आभल को ख्याल । ७. गोपीचंद को ख्याल । ८. गोपीचंद राजा को ख्याल । ९. चक्रवर्ती राजा को ख्याल । १०. चन्दकवर सेठाणी को ख्याल । ११. छोटा कंथ को ख्याल । १२. डोंगजी जुवारजी को ख्याल । १३. ढोला मरवण को ख्याल । १४. दयाराम धाड़वी को ख्याल । १५. दुले धाड़वी को ख्याल । १६. बिनजारे को ख्याल । १७. बेनजीर साजादी को ख्याल । १८. मोरधज राजा को ख्याल । १९. रांझा हीरू का ख्याल । २०. लैला मजनू का ख्याल । २१. वीरमसिंग नौटंकी का ख्याल । २२. विक्रम परवीण परी का ख्याल । २३. सुलतान बादशाह का ख्याल । २४. सौदागर वजीरजादी का ख्याल । २५. हरिचंद राजा का ख्याल ।

(च) पं० पूनमचंद सिखवाल लिखित ख्यालों की सूची :—

१. अमलदार को ख्याल । २. आनदी गणपति को ख्याल । ३. उद्धव गोपी को ख्याल । ४. कुंदनमल को ख्याल । ५. खटपटिया को ख्याल । ६. गेंदयाल गज-रांदे को ख्याल । ७. छोटा बालम को ख्याल । ८. तारासिंह आसावरी को ख्याल । ९. नल दमयंती को ख्याल । १०. नशाबाज को ख्याल । ११. पूनमल भक्त को ख्याल । १२. पंजाबी हकीम को ख्याल । १३. भक्त सुदामा को ख्याल । १४. भंवर चमेली को ख्याल । १५. मदनमालती चंदपी को ख्याल । १६. पज कंवर को ख्याल । १७. रावरिसालू नोपदे को ख्याल । १८. रिसालू केलादे को ख्याल । १९. रिसालू रसवंती को ख्याल । २०. रुकमणी मंगल को ख्याल । २१. रूपरतन रसफूला को ख्याल । २२. लंकादहन सीताहरण को ख्याल । २३. विक्रमादित्य चंद्रकला को ख्याल । २४. सेंधरा माजलदे को ख्याल । २५. हरिचन्द्र तारादे को ख्याल ।

(छ) बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक बंबई द्वारा प्रकाशित सूची :—

१. अमरसिंह को ख्याल । २. अमरसिंह हाड़ीराणी को ख्याल । ३. खिवा आभल को ख्याल । ४. गोपीचंद (मो० कृ०) को ख्याल । ५. गोपीचंद (प्रह्लाद कृ०) को ख्याल । ६. चितारा चितरंगी को ख्याल । ७. छोटा कंथ को ख्याल । ८. जगदेव कंकाली को ख्याल । ९. जुहरी को ख्याल । १०. डूंगजी जवारजी को ख्याल । ११. ढोलामरवण को ख्याल । १२. ढोला सुलतान न्यालदे को ख्याल । १३. दयाराम धाड़वी को ख्याल । १४. नल राजा को ख्याल । १५. नगोरी छैला । १६. पन्ना वीरमदे को ख्याल । १७. पाक महोबत (लैलामजनू) को ख्याल । १८. पूरण भक्त को ख्याल । १९. पृथ्वीराज को ख्याल । २०. फूलकंवर फूलवती को ख्याल ।

२१. फूलादे केसरसिंह को ख्याल । २२. बिणजारा को ख्याल । २३. बैण बादस्याही को ख्याल । २४. भरतरी को ख्याल । २५. मालदे हाडीरानी को ख्याल । २६. मोर-ध्वज को ख्याल । २७. राजा चकवै बैण को ख्याल । २८. रिसालू नोपदे को ख्याल । २९. विक्रम शशिकला को ख्याल । ३०. मुलतान मरवण को ख्याल । ३१. सुलोचना को ख्याल । ३२. सोने लोहे के झगड़े को ख्याल । ३३. सौदागर वजीरजादी को ख्याल । ३४. हरिश्चंद्र तारामती को ख्याल । ३५. हीर रांझा को ख्याल ।

(ज) हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा द्वारा प्रकाशित :—

१. ख्याल राजा गोपीचंद, । २. ख्याल राजा रिसालू । ३. ख्याल दोहापाली-संग्रह । ४. ख्याल डूंगरसिंह । ५. ख्याल दसमासिया । ६. ख्याल अमरसिंह । ७. ख्याल मारवाड़ी गीत । ८. ख्याल मोरध्वज ।

(झ) लाला वंशीधर दूदानी, बंबई मशीन प्रेस, सेव का बाजार, आगरा द्वारा प्रकाशित:—

१. नणद भौजाई का ख्याल । २. देवर भौजाई का ख्याल । ३. दौरानी जेठानी का ख्याल । ४. बुढ़ापे का ब्याह का ख्याल । ५. सास बहू का ख्याल । हीर रांझा का ख्याल ।

(ज) ईश्वरलाल बुक्सेलर, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर, द्वारा प्रकाशित (हमारे संग्रह के अतिरिक्त)—

१. ख्याल देवर भौजाई । २. ख्याल पचफूला आसाडाबी । ३. ख्याल डूंगर-सिंह जवाहरसिंह । ४. ख्याल सुन्दर नगीना । ५. ख्याल दो गोरी बालमा । ६. ख्याल दौरानी जिठानी । ७. ख्याल सास बहू का । ८. ख्याल केसरसिंह का । ९. ख्याल हीर रांझा का । १०. ख्याल सूरजकुंवर बड़ा । ११. ख्याल निहालदे का बड़ा । १२. ख्याल नागरडे का । १३. ख्याल दसमासिया । १४. ख्याल गोपीचंद भरथरी । १५. ख्याल सारंगा सदावृज । १६. ख्याल पूरनमल का । १७. ख्याल केसरसिंह का । १८. ख्याल मणियार का । १९. ख्याल रिसालू बेलादे का । २०. ख्याल रिसालू कामदे का । २१. ख्याल काकी जेठूत का । २२. ख्याल चकवा बैण का । २३. ख्याल बीन वादस्याजादी । २४. ख्याल गोपीचंद । २५. ख्याल वीरमदे का ।

(ट) हरिप्रसाद भागीरथजी, रामबाड़ी बंबई द्वारा प्रकाशित (हमारे अतिरिक्त)—

१. रिसालू नोपदे का ख्याल । २. गोपीचंद को ख्याल (मोतीलाल) । ३. अमरसिंह का ख्याल, (मोतीलाल) ४. दयाराम धाड़वी का ख्याल, (प्रह्लादी-राम) ५. अमरसिंह हाडीरानी का ख्याल । ६. गोपीचंद का ख्याल, (प्रह्लादीराम) ७. हीर रांझा का ख्याल । ८. सुलोचना का ख्याल । ९. भरथरी का ख्याल । १०. नल राजा का ख्याल । ११. सिलोसतवंती का ख्याल ।

(ठ) कन्हैयालाल एन्ड सन्स बुक्सेलर्स, (हमारे संग्रह के अतिरिक्त)—

१. ख्याल सीता सतवंती । २. ख्याल अमरसिंह का । ३. ख्याल कथा चूना का । ४. ख्याल मोरध्वज का । ५. ख्याल डूंगरसिंह का । ६. ख्याल सुन्दर नगीना का ।

७. ख्याल आसाडाबी पचफूला । ८. ख्याल निहालदे । ९. ख्याल रिसालू नोपदे ।
 १०. ख्याल हीर रांझे का । ११. ख्याल छैला पनहारी का । १२. ख्याल
 शनीचर का ।

(ड) रामलाल नोपाणी, ६७ काटन स्ट्रीट, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित
 (हमारे अतिरिक्त) —

१. अमलदार का ख्याल । २. इन्द्र सभा का ख्याल । ३. हीर रांझा का
 ख्याल । ४. जगदेव कंकाली का ख्याल । ५. चन्द्रप्रताप का ख्याल । ६. मालदे
 हाडी रानी का ख्याल । ७. हकीम गरमीवाला का ख्याल । ८. वीरमदे सोनगरी का
 ख्याल । ९. चंदकंवर फूलकंवर का ख्याल । १०. राजा भोज भानुमती का ख्याल ।
 ११. पूरणमल भक्त का ख्याल । १२. ढोलो मरवण का ख्याल । १३. छोटा कंथ
 का ख्याल । १४. जुरी खतराणी को ख्याल । १५. चकवा बैण को ख्याल ।
 १६. स्याम कलिजा इन्दु को ख्याल । १७. साहिब तू सच्च को ख्याल । १८. सेठ मुनीम
 को ख्याल । १९. सहजादे को ख्याल । २०. नैला मजनू को ख्याल । २१. मंदनसेन
 चंदकिरण को ख्याल ।

(ढ) उपरोक्त प्रकाशकों के अतिरिक्त :—

बाबू दीपचंद, नीमच । लोक साहित्य सदन, जयपुर । विशन बुक डिपो, मथुरा ।
 पुस्तक मंदिर, मथुरा । दूधनाथ पुस्तकालय, जगन्नाथ हुकुमचंद, कत्ला, जैसलमेर ।
 किशोरीलाल लखतमल, जैसलमेर । गंगाराम प्रतापजी, लखारा, जालना । चिन्ताम-
 णिदास जंदाणी, जैसलमेर । पं० जगन्नाथ उपाध्याय, अजमेर । रामनाथरायण त्रिवेदी,
 कलकत्ता । आदर्श हिन्दू पुस्तकालय, मथुरा । श्यामलाल हीरालाल, श्याम काशी प्रेस,
 मथुरा । जमना प्रिन्टिंग वर्क्स, मथुरा इत्यादि-इत्यादि कई प्रकाशक हैं ।



८. दिल्ली की रासलीला के संचालकों की परम्परा

महंत राघोदास

चतुर्भुज

निरंजनदास

रघुवरदयाल

जगन्नाथ

लक्ष्मीनारायण

(वर्तमान)

रामनारायण

श्यामसुन्दर

रामनाथ

६. लोक-नाट्य : संगठन विधि

संगठन किस तरह किया जाना चाहिये ? नागरिक रंगमंच का निर्माण तो शहर में कुछ नाट्यानुरागी व्यक्तियों के सम्मिलित उद्योग से स्थापित संस्था के रूप में भी किया जा सकता है । किन्तु लोक-रंगमंच तो देहातों अथवा जन-साधारण के समुदायों में अपने खेल दिखाने वाली मंडलियों या गाने-बजाने वाले दलों में ही बिखरा पड़ा है । इनमें जो व्यावसायिक मंडलियां हैं, जैसे जात्रा पार्टियां, नौटंकियां, 'विदेसिया' मंडलियां, रासधारी और रामलीला दल इत्यादि, उन्हें तीन प्रकार की सहायता दी जा सकती है । एक तो अच्छे नाटककार उनमें प्रचलित नाटकों की विशेषताओं का अध्ययन करके उगी रूप-विधान के कुछ उत्कृष्ट नये नाटक लिखें । नाटक का रूप, रसपरिपाक और वातावरण वैसा ही हो किन्तु कथानक अधिक सुव्यवस्थित और चरित्रगठन अधिक परिमार्जित हो । प्रादेशिक नाट्य-परिषद या ऐसी कोई भी संस्था लेखकों को सुविधाएं देकर उन्हें देहातों में भेजकर पुस्तकें उपलब्ध कराकर ऐसे नाटकों की रचना कराए और फिर मंडलियों को पहले से आर्थिक सहायता देकर उन नाटकों को खेलने के लिये उत्साहित करे । कोई भी छोटी व्यावसायिक मंडली ५०० से १००० रुपये की सहायता पाने पर नये खेल खेलने के लिये प्रस्तुत हो सकती है । जब ऐसे ५-६ रंगमंच आ जायें तो आर्थिक सहायता धीरे-धीरे कम की जा सकती है और लेखकों का भी मंडलियों से सीधा सम्पर्क स्थापित हो सकता है । दूसरे इन मंडलियों को जो प्रायः घूमती-फिरती रहती हैं, कलापूर्ण पोशाक, पर्दे, और संगीत के साज, लैम्प इत्यादि के लिये सहायता दी जाय । रुपया देना तो ठीक न होगा, उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए विशेष रूप से कलाकारों द्वारा तैयार की कराई गई वस्तुएँ ही, उन्हें प्रारंभ में तो बिना मूल्य के ही और बाद में सस्ते दामों में दी जायें । इस तरह भद्दी वेषभूषा, पर्दों और हारमोनियम इत्यादि बाजों का क्रमशः बहिष्कार होता जायेगा । इन मंडलियों में चुने हुए कलाकारों को कुछ समय के लिये छात्र-वृत्तियां देकर संगीत, सजावट, नृत्य और अभिनय कला में शिक्षा के लिये विशेष केन्द्रों में भेजा जाय । ध्यान यह रखना होगा कि ये शिक्षा-केन्द्र लोक-रंगमंच की विशेषताओं से विमुख न हो जायें ।

यह तो रही व्यावसायिक मंडलियों की बात । इनसे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है वे मंडलियाँ जो अनेक गांवों में वहां की भिन्न-भिन्न जातियों के लोग अपने मनोरंजन के लिये बना लेते हैं । आदिवासियों में तो मंडली बनाने की जरूरत ही नहीं होती । सारा गांव या कम से कम गांव के युवक और युवती उसमें शामिल होते हैं । अन्यत्र भी मंडलियों की सदस्यता सीमित नहीं होती, जो चाहे शामिल हो जाय ।

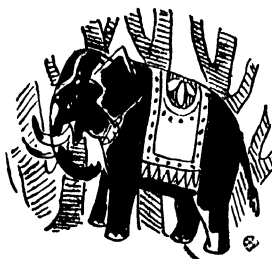
मुख्यतः ये लोग गाने बजाने के लिये एकत्र होते हैं । इनके संगठन का सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि गांव के एक मुख्य स्थान में उनका केन्द्र स्थापित कर दिया जाय । वहां सप्ताह या पखवारे में एक बार उनका प्रदर्शन हुआ करे । थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता से उस स्थान पर एक खुला रंगमंच एक कलापूर्ण चवतरे के रूप में बनवा दिया जाय । गांव की ही स्त्रियां और बच्चे उसकी सजावट करें । गांव के कारीगर उसके लिये सामग्रियां जुटाएं । रंगमंच का गांव की दस्तकारी से सीधा सम्बन्ध हो, जिससे देहाती समाज का प्रत्येक अंग इस रंगमंच को अपनी चीज समझने लगे । प्रारंभ में तो ये मंडलियां पूर्ववत् नृत्य और गान का ही प्रदर्शन करेंगी, किन्तु धीरे-धीरे उनमें छोटे-छोटे नाटक खेलने के लिये शौक पैदा किया जाय । ये नाटक वा संवाद देहात की ही भाषा में होने चाहियें और सरल शैली में तैयार किये जाय । कथानक ऐसा हो जिसमें व्यक्ति नहीं समुदाय के चरित्र का विकास हो, समुदाय की समस्याओं का सीधी सादी रीति से उद्घाटन हो ।

इन ग्राम पुस्तकालयों का संगठन और उनके रंगमंच का संचालन और निर्देशन के लिये उत्साही कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है । आज दिन हम रचनात्मक कार्यकर्ताओं की मांग सुनते हैं । यह भी सांस्कृतिक क्षेत्र की निर्माणकारी योजना है इसके लिये कुछ रंगमंच दलों की आवश्यकता है । विश्वविद्यालयों वा कालिजों के उत्साही छात्र और अध्यापक ऐसे दलों की स्थापना करें । दल के सदस्य वह नियम बांध लें कि हफ्ते या पखवा में एक बार गांव में रंगमंच के आयोजन का कुछ काम करे । थियेटर ग्रुप के सदस्य अपने उस ग्रामीण रंगमंच के लिये चन्दा चन्दा इकट्ठा करें, उनको हर कदम पर सहायता देते रहें, उनके लिये नाटक, गीत लिखें । अखबारों में उनकी कला का प्रचार करें । जन-संस्कृति के उत्थान में हाथ बटाने का इससे श्रेयस्कर और कौन कार्यक्रम हो सकता है । अमेरिका के नार्थ कैरोलिना विश्वविद्यालयों में तीस वर्ष हुए प्रोफेसर फ्रडरिक कोश ने इसी तरह का एक ग्रुप स्थापित किया और अपने छात्रों से जन जीवन से सम्पर्क रखने वाले लघु नाटक लिखाये और उन्हें अभिनीत कराया । परिणामतः नार्थ कैरोलिना प्रदेश में जो अमेरिका का देहाती भाग है, एक सजीव लोक-रंगमंच चल निकला और बिना व्यावसायिक रंगमंच के ही वहां लोक-रंगमंच के आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया । १९वीं शताब्दी के अंत में आयरलैंड के डब्लिन नगर में यीट्स, लेडी ग्रेगरी और ज० एम० सिज इत्यादि के उद्योग से एथी थियेटर की स्थापना भी बहुत कुछ इसी सिद्धान्त पर हुई थी ।

यह तो स्पष्ट ही है, कि लोक रंगमंच के संगठन में सरकारी सहायता के बिना काम नहीं चल सकता । यदि सरकार इसे अपने प्रचार-विभाग का अंग न बनाये तो किसी को सरकारी सहयोग में आपत्ति नहीं होनी चाहिये । लेकिन जहां तक हो सके व्यावसायिक और ग्राम मंडलियों को सहायता देने और उन्हें संगठित करने का भार सरकार को प्रादेशिक मंगीत नृत्य नाट्य कला परिषद् या इसी ढंग की सरकारी संस्थाओं पर छोड़ देना चाहिये और उन्हीं को प्रतिवर्ष आवश्यकतानुसार अनुदान देना चाहिये जिससे ऊपर दिये हुए सुझावों के अनुसार संगठन कर सकें । इसके अतिरिक्त दो बातें सरकार अपनी ही ओर से कर

सकती है। एक तो कुछ घूमने-फिरने वाली नाटक मंडलियों की स्थापना सरकारी खर्च से ही करे। ये मंडलियां देहातों में घूम-घूम कर अच्छे नाटकों का प्रदर्शन करें, रंगमंच इनका भी सीधा-सादा हो, नाटकों का रूप भी लोक परम्परा का अनुगामी हो। जहां जहां ये मंडलियां जायेंगी, एक नवीन रंगमंच का नमूना देहाती जनता के सामने पेश कर दें। उनके अनुकरण में न सिर्फ व्यावसायिक मंडलियां उसी ढंग के नाटक खेलने लगेंगी, बल्कि देहातों में स्थायी रंगमंचों की भी स्थापना होने लगेगी। इन मंडलियों की साल भर में एक बार ट्रेनिंग का भी प्रबन्ध होना चाहिये। दूसरी बात जो सरकार के द्वारा की जा सकती है वह लोक रंगमंच के महोत्सवों का आयोजन। ऐसे महोत्सव अलग-अलग इलाकों में हों तो अच्छा है। उत्सवों, प्रतियोगिता और पुरस्कार का आयोजन होना चाहिये। बिहार सरकार ने 'मोद मंडलियों' के नाम से घूमने-फिरने वाली नाटक मंडलियों का संगठन किया है, और वर्ष में एक बार प्रादेशिक रंगमंच महोत्सव को भी चालू किया है।

पिछले पच्चीस वर्षों में लोक-नृत्य और लोक-संगीत की ओर संस्कृति प्रेमी व्यक्तियों का ध्यान गया है और नगरों में उनका प्रचार भी बहुत कुछ हुआ है। किन्तु लोक-रंगमंच जैसी चीज की स्थापना करने की कोई योजना हमारी नजर में नहीं आई। लोककला को नगर और सभ्य कही जाने वाली जनता के सामने रख देना एक बात है और जन जीवन के बीच में उन्हीं के मनोरंजन और उन्हीं की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का आयोजन करना, दूसरी बात। गांव से नगरों की ओर दौलत भी खिंची, उसकी गोदी के लाल भी खिंचे, उसकी धरती के गीत भी उड़े। क्या यह नहीं हो सकता कि उन गीतों की पौध उसी धरती में जमे, फले, फूले और लोक-जीवन को आनंद रस से सराबोर करे ?



१. मध्यप्रदेश के समाज सेवा विभाग ने भी 'कलापथक' नाम से हर जिले में ऐसी मण्डलियां बनायी हैं।

१०. नौटंकी संबंधी लोककथा

डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने नौटंकी के विषय में कुछ जान योग्य बातें प्राप्त की हैं। आपका कथन है कि नौटंकी एक प्रेम-कथा है। आधार रूप में पंजाब की एक लोक कथा इस प्रकार है —

“नौटंकी नाम की एक राजकुमारी थी, जो वैसी ही प्रसिद्ध थी, जैसी सिंहल द्वीप की पद्मिनी। हुआ यह कि एक बार शिकार से लौटकर फूलसिंह नामक युवक ने अपनी भाभी से पीने का ठण्डा पानी, नहाने को पानी, खाने को दाल-चावल और हुक्का भर कर तैयार करने को कहा। भाभी को देवर के कहने का ढंग अच्छा न लगा और उसने कह दिया कि कौन नौटंकी ब्याह कर ले आये हो, जो ऐसा हुक्म चलाते हो। मैं तुम्हारी तनखा नहीं पाती कि हुक्म बजाने के लिये खड़ी रहूं। भाभी के ये वचन युवक को तीर की तरह लगे और उसने प्रतिज्ञा की कि नौटंकी ब्याह कर ही घर लौटूंगा। घर से चला तो भाभी को भूल मालूम हुई। उसने पश्चात्ताप किया और क्षमा मांगी। नौटंकी के लाने की कठिनाइयों का उल्लेख किया पर फूलसिंह दृढ़प्रतिज्ञ रहा। इसके बाद तो भाई, माता, पिता, मित्र आदि सबने समझाया, पर नौटंकी का दीवाना फूलसिंह रोके न रुका। दो खुजरियों में मोहरें भर कर वह घोड़े पर चढ़ कर चल दिया और नौटंकी के बाग में जा पहुंचा। मालिन को रिश्वत देकर उसने बाग में स्थान पाया और मालिन के बदले स्वयं राजकुमारी नौटंकी के लिये माला गूंथी, जिस में जवाहरात जड़ दिये। मालिन उस हार को देर से लेकर गई तो नौटंकी क्रोध से आग-बबूला हो गई। मालिन से बहुत पूछने पर उसने भेद नहीं बताया और अपने लड़के की बहू को उस हार के गूंथने का श्रेय दिया। नौटंकी ने हुक्म दिया कि बहू को सामने लाया जाये। मालिन के होश उड़ गये। बाग में लौटकर उसने फूलसिंह से सब हाल कहा। अन्तमें फूलसिंह स्त्री बनकर महल में गया। स्त्री रूप में फूलसिंह नौटंकी से कम सुन्दर न था। नौटंकी ने उसे सहेली बनाकर एक ही सेज पर सोने का अधिकारी बना दिया। फूलों से सेज सजाई गई। दोनों एक साथ सोये। बातचीत के दौरान में फूलसिंह ने नौटंकी से कुमारी रहने का कारण पूछा तो उसने अपने योग्य वर न मिलने की युक्ति दी और इच्छा प्रकट की कि यदि हम दोनों में कोई मर्द हो जाये तो क्या ही आनन्द की बात हो। इस पर फूलसिंह ने इष्टदेव को मनाकर यह वरदान मांगने को कहा कि हम में से कोई मर्द हो जाय। नौटंकी ने वैसा ही किया और फूलसिंह मर्द के रूप में प्रस्तुत हो गया। नौटंकी को जब चाल मालूम हुई तब वह घबराई पर अब क्या हो सकता था। खबर राजा तक गई। फूलसिंह गिरफ्तार कर लिया गया और फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया गया। नौटंकी प्रेमीके लिये मर्दाना वेश रखकर वध-स्थल पर आगई। जैसे ही जल्लादों को राजा ने कत्ल का हुक्म दिया, नौटंकी मर्दाना वेश उतारकर अपने असली

रूप में आगई । उसने जल्लादों को धक्का देकर नीचे गिरा दिया और नंगी तलवार लिये पिता के सामने जाकर कहने लगी कि या तो इसे क्षमा कीजिये या स्वयं मरने को उद्यत हो जाइये । राजा को बेटी की बात माननी पड़ी । पंडित बुलाकर दोनों की शादी कर दी गई । फूलसिंह नौटंकी को लेकर घर आया ।”

ब्रज में नत्थाराम शर्मा गौड़ की लिखी हुई “संगीत नौटंकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत” को नौटंकीबाज असली नौटंकी मानते हैं । प्रेम का जो रूप उक्त लोककथा में उपलब्ध है उसका स्वरूप बहुत कुछ प्रेमाख्यानकों-सा है ।



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी

वाराणसी-१



मूल्य : ५.००



